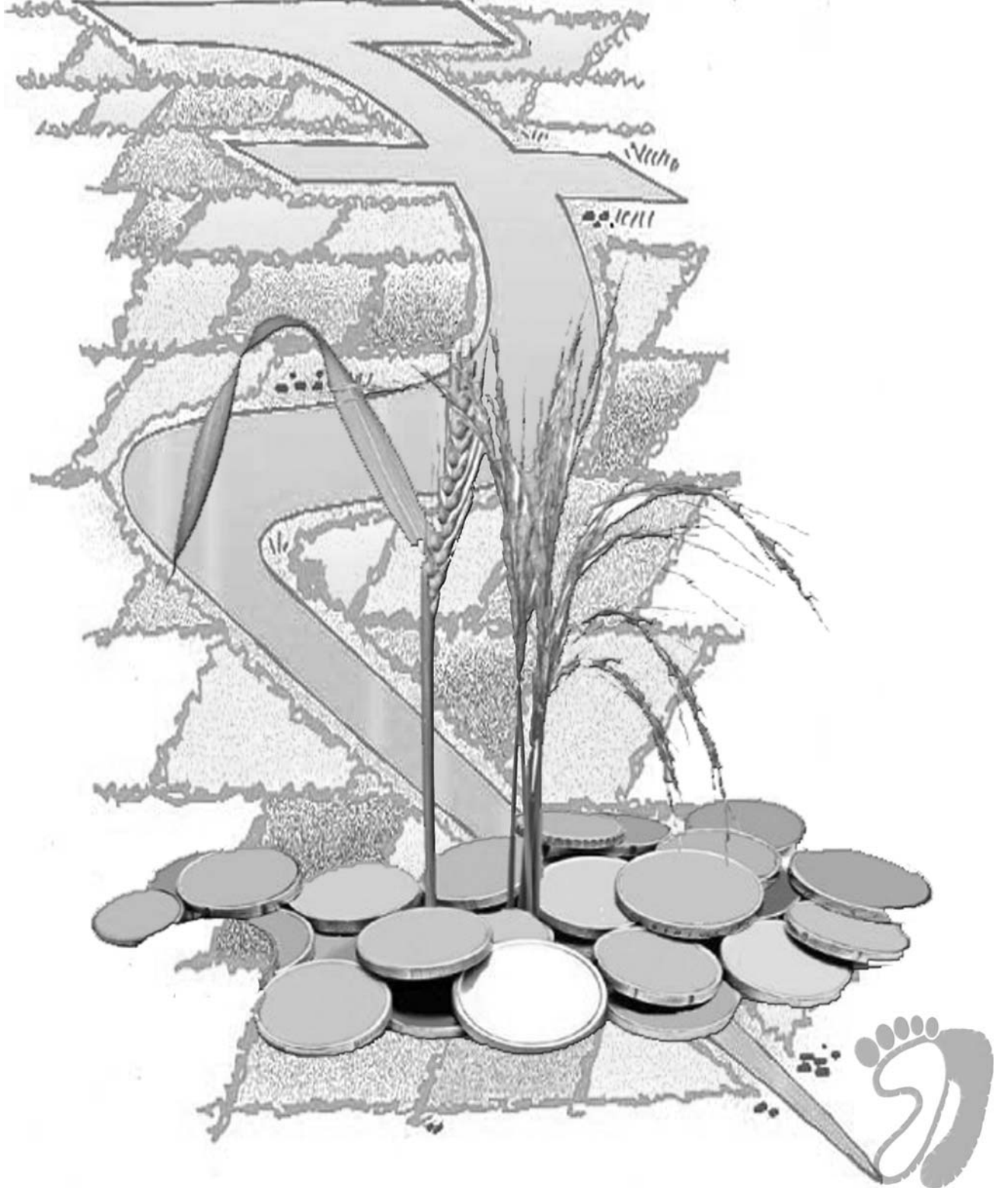


समरथ

सितंबर-अक्टूबर 2015 ♦ नई दिल्ली



नाहि तो जन्म नसाई

भारतीय समाज या कहें भारतीय शहरी मध्यवर्गीय समाज उधार के सपने अपनी आँखों में आँजे रनवे पर खड़ा है ज़मीन छोड़ने को तत्पर। इन आँखों में बुलेट ट्रेन की रफ़्तार है, एक्सप्रेस वे के दोनों सिरों पर सिमटती दूरियाँ हैं, रौशनी से जगर-मगर, समृद्धि में लकदक द्वीप हैं। फोर्ब्स और टाइम की सूचियों में दाखिल होते भारतीय अरबपतियों की ज़मात है। पर, रनवे पर उड़ने को आतुर यह जमात अपने सपने की ऊँचाइयों से खुद ही आक्रांत और डरी हुई है; एक डर जिससे अक्सरहाँ खुद में सिमटे, सिकुड़े समाज डूबते उतराते हैं। अलगाव में पड़ जाने का डर, अपनी ज़मीन खोने और हटने का डर। यह डर उन्हें एक अलग तरीके से संगठन और संगठित होने के लिए उकसाता है, उन्हें अपनी ज़मीन पकड़े रहने को मजबूर करता है।

इस डर और उन सपनों का संधिस्थल ही वह ज़मीन है जहाँ संघ और लीग अपनी जड़ें जमा पाते हैं, जहाँ संस्कृति और धर्म एकमेव हो जाते हैं। जहाँ 'अपनी' ज़मीन, 'अपनी' संस्कृति, 'अपने' मूल्य किसी भी एक प्रतीक पर सिमट जाते हैं। फिर भले ही वह एक निरीह प्यारी बड़े-बड़े आँखों से टुकर-टुकर ताकती गाय ही क्यों न हो। भारतीय संस्कृति जो हिंदू संस्कृति बन चुकी है वह क्या अब गो संस्कृति बन कर रहेगी? क्या हम सफलतापूर्वक गाय को एक शिकारी पशु में तब्दील कर देने का प्रोजेक्ट पूरा कर लेंगे?

यह अंक समर्पित है दादरी, जम्मू, हिमाचल, हरियाणा और मणिपुर में जो राजनीति का शिकार बने मासूम लोगों को और उस निरीह गाय को भी...

गंगा और महादेव

■ दोनों कविताएं डॉ. राही मासूम रज़ा

मेरा नाम मुसलमानों जैसा है
मुझको क़ल्ल करो और मेरे घर में आग लगा दो
मेरे उस कमरे को लूटो जिसमें मेरी बयाज़ें जाग रही हैं
और मैं जिसमें तुलसी की रामायण से सरगोशी कर के
कालिदास के मेघदूत से ये कहता हूँ :

मेरा भी एक सन्देसा है
मेरा नाम मुसलमानों जैसा है
मुझको क़ल्ल करो और मेरे घर में आग लगा दो
लेकिन मेरी रग-रग में गंगा का पानी दौड़ रहा है
मेरे लहू से चुल्लू भरकर महादेव के मुँह पर फेंको,
और उस जोगी से ये कह दो :

महादेव! अब इस गंगा को वापस ले लो,
यह हम ज़लील तुर्कों के बदन में
गाढ़ा गर्म लहू बन-बनकर दौड़ रही है

सबसे छोटी अक़लीयत

मैं इक फर्द हूँ अपने मुल्क की सबसे छोटी अक़लीयत का
नागफनी के इक जंगल में, जैसे हरसिंगार की कोंपल
नक्कारों के इक सहारा में, जैसे एक अकेली छागल
प्यास के वन में,
नील गगन में जैसे इक छोटा सा बादल

ताज-ओ-अजंता की बस्ती में
नटखट मक्खन चोर, हठीले की नगरी में
सूर, कबीर, मीरा, ग़ालिब, टैगोर के घर में
चिश्ती-से दीवानों की इस राहगुज़र में
चंद्रगुप्त के सीने पर
अकबर के जिगर में
गंग-ओ-जमन की इस धरती पर
इस गुलशन में
जिस गुलशन में सारनाथ और काशी जैसे फूल खिले हैं
आगरा और दिल्ली जैसे छतनार दरख्तों के साये हैं
हिंदू, मुस्लिम, सिख, ईसाई और बलवाई
संघ बनाकर
लोगों का तूफान उठाकर
जलसे करके
फ़ाके करके
जेल बसाकर
ढोंग रचाकर
मरने की क़समें खा-खाकर
दल के दल
जत्थों के जत्थे
अपने-अपने हक़ के लिए लड़ते रहते हैं
डटकर हंगामे करते हैं
लाठी चाकू से गाली तक
सडकों पर हर शै चलती है
इंसानों के सिवा इन सडकों पर हर शै चलती है।
हिंदू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई
चोर, उचक़े
थाने वाले
डिप्टी साहब
एस. पी. साहब
पंडित जी, मौलाना साहब
यानी इंसानों के सिवा इन सडकों पर हर शै चलती है
उत्तर, दक्खिन, पूरब, पश्चिम
उर्दू, हिंदी, बंगाली, पंजाबी, तमिल
अपनी ही मौज़ों के नाखून से ज़ख्मी दामान-ए-साहिल
ख़ौफ़जद: राधा की पायल

हैरां-हैरां देख रहा है, नूरमहल की प्यार भरी नज़रों का घायल
वारिश वहशत के जंगल में
हीर के हाथ से ज़हर का प्याला छिन रहा है
अब वह खुद यह ज़हर का प्याला पी जाएगा
वह अनजानी नार सोहनी
नफ़रत के इस तेज़ चनाव में डूब रही है
हिंदू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई बहुतेरे हैं
पर कोई महिवाल नहीं है
मैं इक फर्द हूँ अपने मुल्क की सबसे छोटी अक़लीयत का
लेकिन उसका नाम बड़ा है
...हिन्दुस्तानी !
हिन्दुस्तानी अपने वतन की सबसे छोटी अक़लीयत है।
इसका कोई संघ नहीं है
इसका कोई लीग नहीं है

अपने वतन में
हिंदू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई बहुतेरे हैं
लेकिन मैं ये सोच रहा हूँ
अपने मुल्क में हिन्दुस्तानी कितने होंगे !

सागर के आगर

■ अनुपम मिश्र

क्रमशः जारी

तालाब एक बड़ा शून्य है अपने आप में। लेकिन तालाब पशुओं के खुर से बन गया कोई ऐसा गड्ढा नहीं कि उसमें बरसात का पानी अपने आप भर जाए। इस शून्य को बहुत सोच-समझ कर, बड़ी बारीकी से बनाया जाता रहा है। छोटे से लेकर एक अच्छे बड़े तालाब के कई अंग-प्रत्यंग रहते थे। हरेक का अपना एक विशेष काम होता था और इसीलिए एक विशेष नाम भी। तालाब के साथ-साथ यह उसे बनाने वाले समाज की भाषा और बोली की समृद्धि का भी सबूत था। पर जैसे-जैसे समाज तालाबों के मामले में गरीब हुआ है, वैसे-वैसे भाषा से भी ये नाम, शब्द धीरे-धीरे उठते गए हैं।

बादल उठे, उमड़े और पानी जहां गिरा, वहां कोई एक जगह ऐसी होती है जहां पानी बैठता है। एक क्रिया है : आगौरना, यानी एकत्र करना। इसी से बना है आगौर। आगौर तालाब का वह अंग है, जहां से उसका पानी आता है। यह वह ढाल है, जहां बरसा पानी एक ही दिशा की ओर चल पड़ता है। इसका एक नाम पनढाल भी है। आगौर को मध्य प्रदेश के कुछ भागों में पैठू, पौरा या पैन कहते हैं। इस अंग के लिए इस बीच में हम सबके बीच, हिंदी की पुस्तकों, अखबारों, संस्थाओं में एक नया शब्द चल पड़ा है - जलागम क्षेत्र। यह अंग्रेजी के कैचमेंट से लिया गया अनुवादी, बनावटी और एक हद तक गलत शब्द है। जलागम का अर्थ वर्षा ऋतु रहा है।

आगौर का पानी जहां आकर भरेगा, उसे तालाब नहीं कहते। वह है आगर। तालाब तो सब अंग-प्रत्यंगों का कुल जोड़ है। आगर यानी घर, खजाना। तालाब का खजाना है आगर, जहां सारा पानी आकर जमा होगा। राजस्थान में यह शब्द तालाब के अलावा भी चलता है। राज्य परिवहन की बसों के डिपो भी आगर कहलाते हैं। आगरा का नाम भी इसी से बना है। आगर नाम के कुछ गांव भी कई प्रदेशों में मिल जाएंगे।

आगौर और आगर, सागर के दो प्रमुख अंग माने गए हैं। इन्हें अलग-अलग क्षेत्रों में कुछ और नामों से भी जाना जाता है। कहीं ये शब्द मूल संस्कृत से घिसते-घिसते बोली में सरल होते दिखते हैं तो कहीं ठेठ ग्रामीण इलाकों में बोली को सीधे संस्कृत तक ले जाते हैं। आगौर कहीं आव है, तो कहीं पायतान, यानी जहां तालाब के पैर पसरे हों। आयतन है जहां यह पसरा हिस्सा सिकुड़ जाए यानी आगर। इसे कहीं-कहीं भराव भी कहते हैं। आंध्र प्रदेश में पहुंच कर यह परिवाह प्रदेशम कहलाता है। आगर में आगौर से पानी आता है पर कहीं-कहीं आगर के बीचों-बीच कुआं भी खोदते हैं। इस स्रोत से भी तालाब में पानी आता है। इसे बोगली कहते हैं। बिहार में

बोगली वाले सैकड़ों तालाब हैं। बोगली का एक नाम चूहर भी है।

जल के इस आगर की, कीमती खजाने की रक्षा करती है पाल। पाल शब्द पालक से आया होगा। यह कहीं भींड कहलाया और आकार में छोटा हुआ तो पींड। भींड का भिंड भी है बिहार में। और कहीं महार भी। पुश्ता शब्द बाद में आया लगता है। कुछ क्षेत्रों में यह पार है। नदी के पार की तरह किनारे के अर्थ में। पार के साथ आर भी है - आर, पार और तालाब के इस पार से उस पार को आर-पार या पार-आर के बदले पारावार भी कहते हैं। आज पारावार शब्द तालाब या पानी से निकल कर आनंद की मात्रा बताने के लिए उपयोग में आ रहा है, पर पहले यह पानी के आनंद का पारावार रहा होगा।

पार या पाल बहुत मजबूत होती है पर इस रखवाले की भी रखवाली न हो तो आगौर से आगर में लगातार भरने वाला पानी इसे न जाने कब पार कर ले और तब उसका प्रचंड वेग और शक्ति उसे देखते ही देखते मिटा सकता है। तालाब को टूटने से बचाने वाले इस अंग का नाम है अफरा। आगर तो हुआ तालाब का पेट। यह एक सीमा तक भरना ही चाहिए, तभी तालाब का साल भर तक कोई अर्थ है। पर उस सीमा को पार कर ले तो पाल पर खतरा है। पेट पूरा भर गया, अफर गया तो अब उसे खाली करना है। यह काम अफरा करती है और पेट को फटने से, तालाब को, पाल को टूटने से बचाती है।

इस अंग के कई नाम हैं। अफरा कहीं अपरा भी हो जाता है। उबरा, ओबरा भी है जो शायद ऊबर, उबरने, बचने-बचाने के अर्थ में बने हैं। राजस्थान में ये सब नाम चलते हैं। अच्छी बरसात हुई और तालाब में पानी इतना आया कि अपरा से निकलने लगे तो उसे अपरा चलना और मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश के कई हिस्सों में इसे चादर चलना भी कहते हैं। छत्तीसगढ़ में इस अंग का नाम है छलका - पाल को तोड़े बिना जहां से पानी छलक जाए।

इस अंग का पुराना नाम उच्छवास था, उसे छोड़ देने के अर्थ में। निकास से यह निकासी भी कहलाता है। पर ठेठ संस्कृत से आया है नेष्टा। यह राजस्थान के थार क्षेत्र में, जैसलमेर, बीकानेर, जोधपुर में सब जगह, गांवों में, शहरों में बिना एक मात्रा भी खोए नेष्टा ही कहलाता है। सीमा पार कर सिंध में भी यह इसी नाम से चलता है। यह दक्षिण में कालंगल है तो बुदेलखंड में बगरन यानी जहां से तालाब का अतिरिक्त पानी बगर जाए, निकल जाए।

नेष्टा को पहले वर्ष छोटा बनाते हैं। पाल से भी बहुत नीचा। नई पाल भी पानी पिण्गी, कुछ धंसेगी, सो तालाब में पानी ज्यादा रोकने का लालच नहीं करते। जब एक बरसात में मामला पक्का हो

जाता है तो फिर अगले वर्ष नेष्टा थोड़ा और ऊपर उठाते हैं। तब तालाब ज्यादा पानी रोक सकता है।

नेष्टा मिट्टी के कच्चे पाल का कम ऊंचा भाग है लेकिन पानी का मुख्य जोर झेलता है इसलिए इसे पक्का यानी पत्थर चूने का बनाया जाता है। नेष्टा का अगल-बगल का भाग अर्धवृत्त की गोलाई लिए रहता है ताकि पानी का वेग उससे टकराकर टूट सके। इस गोलाई वाले अंग का नाम है नाका। यदि यही अंग तालाब के बदले बंधान पर बने यानी किसी छोटी नदी-नाले के प्रवाह को रोकने के लिए बनाए गए छोटे बांध पर बने तो उसे ओड़ कहते हैं पंखे के आकार के कारण इसे पंखा भी कहते हैं।

नेष्टा है तो शुद्ध तकनीकी अंग, लेकिन कहीं-कहीं ऐसा भी नेष्टा बनाया जाता था कि तकनीकी होते हुए भी वह कला-पक्ष को स्पर्श कर लेता था। जिन सिद्धस्त गजधरों का पहले वर्णन किया गया है, उनके हाथों से ऐसे कलात्मक काम सहज ही हो जाते थे। राजस्थान के जोधपुर जिले में एक छोटा-सा शहर है फलौदी। वहां शिवसागर नामक एक तालाब है। इसका घाट लाल पत्थर से बनाया गया है। घाट पर एक सीधी रेखा में चलते-चलते फिर एकाएक सुंदर सर्पाकार रूप ले लेता है। यह अर्धवृत्ताकार गोलाई तालाब से बाहर निकलने वाले पानी का वेग काटती है। ज्यामिति का यह सुंदर खेल बिना किसी भोंडे तकनीकी बोझ के, सचमुच खेल-खेल में ही अतिरिक्त पानी को बाहर भेजकर शिवसागर की रखवाली बड़े कलात्मक ढंग से करता है।

वापस आगौर चलें। यहीं से पानी आता है आगर में। सिर्फ पानी लाना है और मिट्टी तथा रेत को रोकना है। इसके लिए आगौर में पानी की छोटी-छोटी धाराओं को यहां-वहां से मोड़कर कुछ प्रमुख रास्तों से आगर की तरफ लाया जाता है और तालाब में पहुंचने से काफी पहले इन धाराओं पर खुरा लगाया जाता है। शायद यह शब्द पशु के खुर से बना है - इसका आकार खुर जैसा होता है। बड़े-बड़े पत्थर कुछ इस तरह जमा दिए जाते हैं कि उनके बीच में सिर्फ पानी निकले, मिट्टी और रेत आदि पीछे ही जम जाए, छूट जाए।

रेगिस्तानी क्षेत्र में रेत की मात्रा मैदानी क्षेत्रों से कहीं अधिक होती है। इसलिए वहां तालाब में खुरा अधिक व्यवस्थित, कच्चे के बदले पक्के भी बनते हैं। पत्थरों को गारे चूने से जमा कर बाकायदा एक ऐसी दो मंजिली पुलिया बनाई जाती है, जिसमें ऊपरी मंजिल की खिड़कियों, या छेदों से पानी आता है, उन छेदों के नीचे से एक नाली में जाता है और वहां पानी सारा भार कंकर-रेत आदि छोड़कर साफ होकर फिर पहली मंजिल के छेदों से बाहर निकल आगौर की तरफ बढ़ता है। कई तरह के छोटे-बड़े, ऊंचे-नीचे छेदों से पानी छानकर आगर में भेजने वाला यह ढांचा छेदी कहलाता है।

इस तरह रोकी गई मिट्टी के भी कई नाम हैं। कहीं यह साद है, गाद है, लद्दी है, तो कहीं तलछट भी। पूरी सावधानी रखने के बाद भी हर वर्ष पानी के साथ कुछ न कुछ मिट्टी आगर में आ ही जाती है। उसे निकालने के भी अवसर या तरीके बहुत व्यवस्थित रहे हैं।

उनका ब्यौरा बाद में। अभी फिर पाल पर ही चलें। पाल कहीं सीधी, कहीं अर्ध चंद्राकार, दूज के चांद की तरह बनती है तो कहीं उसमें हमारे हाथ की कोहनी की तरह एक मोड़ होता है। यह मोड़ कोहनी ही कहलाता है। जहां भी पाल पर आगौर से आने वाले पानी का बड़ा झटका लग सकता है, वहां पाल की मजबूती बढ़ाने के लिए उस पर कोहनी दी जाती है।

जहां संभव है, सामर्थ्य है, वहां पाल और पानी के बीच पत्थर के पाट लगाए जाते हैं। पत्थर जोड़ने की क्रिया जुहाना कहलाती है। छोटे पत्थर गारे से जोड़े जाते थे और इस घोल में रेत, चूना, बेलफल (बेलपत्र), गुड़, गोंद और मेथी मिलाई जाती थी। कहीं-कहीं राल भी। बड़े वजनी पत्थर छेद और कील पद्धति से जोड़े जाते थे। इसमें एक पत्थर में छेद छोड़ते और दूसरे में उसी आकार की कील अटा देते थे। कभी-कभी बड़े पत्थर लोहे की पती से जोड़ते थे। ऐसी पट्टी जोंकी या अकुंडी कहलाती थी। पत्थर के पाट, पाल की मिट्टी को आगर में आने से रोकते हैं। पत्थरों से पटा यह इलाका पठियाल कहलाता है। पठियाल पर सुंदर मंदिर, बारादरी, छतरी और घाट बनाने का चलन है।

तालाब और पाल का आकार काफी बड़ा हो तो फिर घाट पर पत्थर की सीढ़ियां भी बनती हैं। कहीं बहुत बड़ा और गहरा तालाब है तो सीढ़ियों की लंबाई और संख्या भी उसी अनुपात में बढ़ जाती है। ऐसे में पाल की तरह इन सीढ़ियों को भी मजबूती देने का प्रबंध किया जाता है। ऐसा न करें तो फिर पानी सीढ़ियों को काट सकता है। इन्हें सहारा देने बीच-बीच में बुर्जनुमा, चबूतरे जैसी बड़ी सीढ़ियां बनाई जाती हैं। हर आठ या दस सीढ़ियों के बाद आने वाला यह ढांचा हथनी कहलाता है।

ऐसा ही किसी हथनी दीवार में एक बड़ा आला बनाया जाता है और उसमें घटोइया बाबा की प्रतिष्ठा की जाती है। घटोइया देवता घाट की रखवाली करते हैं। प्रायः अपरा की ऊंचाई के हिसाब से इनकी स्थापना होती है। इस तरह यदि आगौर में पानी ज्यादा बरसे, आगर में पानी का स्तर लगातार ऊंचा उठने लगे, तालाब पर खतरा मंडराने लगे तो घटोइया बाबा के चरणों तक पानी आने के बाद, अपरा चल निकलेगी और पानी का बढ़ना थम जाएगा। इस तरह घाट की, तालाब की रखवाली देवता और मनुष्य मिलकर करते रहे हैं।

तालाबों की तरह नदियों के घाटों पर भी घटोइया बाबा की स्थापना होती रही है। बाढ़ के दिनों में जो बड़े-बूढ़े, दादा-दादी घाट पर खुद नहीं जा पाते, वे वहां से वापस लौटने वाले अपने नाती-पोतों, बेटे-बेटियों से बहुत उत्सुकता के साथ प्रायः यही प्रश्न पूछते हैं, “पानी कहां तक चढ़ा है? घटोइया बाबा के चरणों तक आ गया?” उनके पांव पानी पखार ले तो बस सब हो गया। इतना पानी आगर में हो जाए तो फिर काम चलेगा पूरे साल भर।

पूरे साल भर आगर की जल राशि को, खजाने को आंकने-मापने का काम करते हैं उनमें अलग-अलग स्थानों पर लगने वाले स्तंभ। नागयष्टि बहुत पुराना शब्द है। यह नए खुदे तालाबों में जल

स्तर नापने के काम आता था। इस पर अक्सर नाग का अलंकरण नहीं हुआ, वैसे स्तंभ केवल यष्टि भी कहलाते थे। धीरे-धीरे घिसते-घिसते यही शब्द 'लाठ' बना। यह स्तंभ भी कहलाता है और जलथंब या केवल थंभ भी। कहीं इसे पनसाल या पौसरा भी कहा जाता है। ये स्तंभ अलग-अलग जगह लगाते हैं, लगाने के अवसर भी अलग होते हैं। और प्रयोजन भी कई तरह के।

स्तंभ तालाब के बीचोंबीच, अपरा पर, मोखी पर, यानी जहां से सिंचाई होती है वहां पर तथा आगौर में लगाए जाते हैं। इनमें फुट, गज आदि नीरस निशानों के बदले पद्म, शंख, नाग, चक्र जैसे चिन्ह उत्कीर्ण किए जाते हैं। अलग-अलग चिन्ह पानी की एक निश्चित गहराई की सूचना देते हैं। सिंचाई के लिए बने तालाबों के स्तंभ के एक विशेष चिन्ह तक जल स्तर उतर आने के बाद पानी का उपयोग तुरंत रोक कर उसे फिर संकट के लिए सुरक्षित रखने का प्रबंध किया जाता रहा है। कहीं-कहीं पाल पर भी स्तंभ लगाए जाते हैं। पर पाल के स्तंभ के डूबने का अर्थ है 'पाले' यानी प्रलय होना।

स्तंभ पत्थर से बनते थे और लकड़ी के भी। लकड़ी की जात ऐसी चुनते थे, जो मजबूत हो, पानी से सड़े-गले नहीं। ऐसी लकड़ी का एक पुराना नाम क्षत्रिय काष्ठ था। प्रायः जामुन, साल, ताड़ तथा सरई की लकड़ी इस काम में लाई जाती रही है। इसमें साल की मजबूती की कई कहावतें रही हैं जो आज भी डूबी नहीं हैं। साल के बारे में कहते हैं कि "हजार साल खड़ा, हजार साल पड़ा और हजार साल सड़ा।" छत्तीसगढ़ के कई पुराने तालाबों में आज भी साल के स्तंभ लगे मिल जाएंगे। रायपुर के पुरातत्व संग्रहालय में कहावत से बाहर निकल कर आया साल के पेड़ का सचमुच सैकड़ों साल से भी पुराना एक टुकड़ा रखा है। यह एक जल स्तंभ का अंश है जो उसी क्षेत्र में चंद्रपुर अब जिला बिलासपुर के ग्राम किरानी में हीराबंध नामक तालाब से मिला है। हीराबंध दूसरी शताब्दी पूर्व के सातवाहनों के राज्य का है। इस पर राज्य अधिकारियों के नाम खुदे हैं जो संभवतः उस भव्य तालाब के भरने से जुड़े समारोह में उपस्थित थे। परिस्थिति नहीं बदले तो लकड़ी खराब नहीं होती। स्तंभ हमेशा पानी में डूबे रहते थे, इसलिए वर्षों तक खराब नहीं होते थे।

कहीं-कहीं पाल या घाट की एक पूरी दीवार पर अलग-अलग ऊंचाई पर तरह-तरह की मूर्तियां बनाई जाती थीं। वे प्रायः मुखाकृति होती थीं। सबसे नीचे घोड़ा तो सबसे ऊपर हाथी। तालाब का बढ़ता जलस्तर इन्हें क्रम से स्पर्श करता जाता था और सबको पता चलता जाता कि इस बार पानी कितना भर गया है। ऐसी शैली के अमर उदाहरण हैं जैसलमेर के अमर सागर की दीवार पर घोड़े, हाथी और सिंह की मूर्तियां।

स्तंभ और नेष्टा को एक दूसरे से जोड़ देने पर तो चमत्कार ही हो जाता है। अलवर से कोई सौ किलोमीटर दूर अरावली की पहाड़ियों के ऊपर आबादी से काफी दूर एक तालाब है श्याम सागर। यह संभवतः युद्ध के समय सेना की जरूरत पूरी करने के लिए 15वीं सदी में बनाया गया था। इसमें किनारे पर वरुण देवता का एक स्तंभ

है। स्तंभ की ऊंचाई के हिसाब से ही उससे कोई एक फर्लांग की दूरी पर श्याम सागर की अपरा है। बढ़ते जल स्तर ने वरुण देवता के चरण छुए नहीं कि अपरा चलने लगती है और तालाब में फिर उससे ज्यादा पानी भरता नहीं। वरुण देवता कभी डूबते नहीं।

स्तंभ तालाब के जल-स्तर को बताते थे पर तालाब की गहराई प्रायः पुरुष नाप से नापी जाती थी। दोनों भुजाएं अगल-बगल पूरा फैलाकर खड़े हुए पुरुष के एक हाथ से दूसरे हाथ तक की कुल लंबाई पुरुष या पुरुख कहलाती है। इंच फुट में यह कोई छह फुट बैठती है। ऐसे 20 पुरुष गहराई का तालाब आदर्श माना जाता रहा है। तालाब बनाने वालों की इच्छा इसी 'बीसी' को छूना चाहती है। पर बनाने वालों के सामर्थ्य और आगौर-आगर की क्षमता के अनुसार यह गहराई कम-ज्यादा होती रहती है।

प्रायः बीसी या उससे भी ज्यादा गहरे तालाबों में पाल पर तरंगों का वेग तोड़ने के लिए आगौर और आगर के बीच टापू छोड़े जाते रहे हैं। ऐसे तालाब बनाते समय गहरी खुदाई की सारी मिट्टी पाल पर चढ़ाने की जरूरत नहीं रहती। ऐसी स्थिति में उसे और भी दूर, यानी तालाब से बाहर लाकर फेंकना भी कठिन होता है। इसलिए बीसी जैसे गहरे तालाबों में तकनीकी और व्यावहारिक कारणों से तालाब के बीच टापू जैसे एक या एकाधिक स्थान छोड़ दिए जाते थे। इन पर खुदाई की अतिरिक्त मिट्टी भी डाल दी जाती थी। तकनीकी मजबूती और व्यावहारिक सुविधा के अलावा लबालब भरे तालाब के बीच में उभरे ये टापू पूरे दृश्य को और भी मनोरम बनाते थे।

टापू, टिपुआ, टेकरी और द्वीप जैसे शब्द तो इस अंग के लिए मिलते ही हैं पर राजस्थान में तालाब के इस विशेष भाग को एक विशेष नाम दिया गया है - लाखेटा।

लाखेटा लहरों का वेग तो तोड़ना ही है, वह तालाब और समाज को जोड़ता भी है। जहां कहीं भी लाखेटा मिलते हैं, उन पर उस क्षेत्र के किसी सिद्ध संत, सती या स्मरण रखने योग्य व्यक्ति की स्मृति में सुंदर छतरी बनी मिलती है। लाखेटा बड़ा हुआ तो छतरी के साथ खेजड़ी और पीपल के पेड़ भी लगे मिलेंगे।

सबसे बड़ा लाखेटा? आज इस लाखेटा पर रेल का स्टेशन है, बस अड्डा है और एक प्रतिष्ठित माना गया औद्योगिक क्षेत्र भी बसा है, जिसमें हिन्दुस्तान इलैक्ट्रो ग्रेफाइट्स जैसे भीमकाय कारखाने लगे हैं। मध्य रेलवे से भोपाल होकर इटारसी जाते समय मंडीद्वीप नामक यह स्थान एक जमाने में भोपाल ताल की लाखेटा था। कभी लगभग 250 वर्गमील में फैला यह विशाल ताल होशंगशाह के समय में तोड़ दिया गया था। आज यह सिकुड़ कर बहुत छोटा हो गया है फिर भी इसकी गिनती देश के बड़े तालाबों में ही होती है। इसके सूखने से ही मंडीद्वीप द्वीप न रह कर एक औद्योगिक नगर बन गया है।

प्रणाली और सारणी तालाब से जुड़े दो शब्द हैं, जिन्होंने अपने अर्थों का लगातार विस्तार किया है। कभी ये तालाब आदि से जुड़ी सिंचाई व्यवस्था के लिए बनी नालियों के नाम थे। आज तो शासन

की भी प्रणाली है और रेलों का समय बताने वाली सारणी भी!

सिंचाई की प्रमुख नाली जहां से निकलती है वह जगह मुख है, मोखा है और मोखी भी है। मुख्य नहर रजबहा कहलाती है।

बहुत ही विशिष्ट तालाबों की रजबहा इस लोक के राज से निकल कर देवलोक को भी छू लेती थी। तब उनका नाम रामनाल हो जाता था। जैसलमेर के धुत रेगिस्तानी इलाके में बने घने सुंदर बगीचे 'बड़ा बाग' की सिंचाई जैतसर नामक एक बड़े तालाब से निकली रामनाल से ही होती रही है। यहां की अमराई और बाग सचमुच इतना घना है कि मरुभूमि में आग उगलने वाला सूरज यहां आता भी होगा तो सिर्फ ठंडक लेने और वह भी हरे रंग में रंग कर।

रजबहा से निकने वाली अन्य नहरें बहतोल, बरहा, बहिया, बहा और बाह भी कहलाती है। पानी निकलने के रास्ते पर बाद में बस गए इलाके का नामकरण भी इन्हीं के आधार पर हुआ है। जैसे आगरा की बाह नामक तहसील।

सिंचाई के लिए बने छोटे से छोटे तालाबों में भी पानी निकालने का बहुत व्यवस्थित प्रबंध होता रहा है। पाल के किसी हिस्से में से आर-पार निकाली गई नाली का एक सिरा तालाब की तरफ से डाट लगाकर बंद रखा जाता है। जब भी पानी निकालना हो, डाट खोल दिया जाता है। लेकिन ऐसा करने में किसी को पानी में कूदना पड़ेगा, उस गहराई तक जाकर डाट हटाना होगा और फिर इसी तरह बंद करना पड़ेगा। इस साहसिक काम को सर्व सुलभ बनाता है डाट नामक अंग।

डाट पाल से तालाब के भीतर की ओर बना एक छोटा-सा लेकिन गहरा हौजनुमा ढांचा होता है। यह वर्गाकार हौज प्रायः दो से तीन हाथ का होता है। पानी की तरफ की दीवार में जरूरत के हिसाब से दो-तीन छेद अलग-अलग ऊंचाई पर किए जाते हैं। छेद का आकार एक बित्ता या उतना, जितना किसी लकड़ी के लट्टे से बंद हो जाए। सामने वाली दीवार में फिर इसी तरह छेद होते हैं, लेकिन सिर्फ नीचे की तरफ। इनसे पाल के उस पार नाली से पानी बाहर निकाला जाता है। हौज की गहराई आठ से बारह हाथ होती है और नीचे उतरने के लिए दीवार पर एक-एक हाथ पर पत्थर के टुकड़े लगे रहते हैं।

इस ढांचे के कारण पानी की डाट खोलने तालाब के पानी में नहीं उतरना पड़ता। बस सूखे हौज में पत्थरों के टुकड़ों के सहारे नीचे उतर कर जिस छेद को खोलना है, उसकी डाट हटाकर पानी चालू कर दिया जाता है। पाल की तरफ वाली नाली से वह बाहर आने लगता है। डाट से मिलते-जुलते ढांचे राजस्थान, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, बिहार, महाराष्ट्र, तमिलनाडु और गोवा तक मिलते हैं। नाम जरूरत बदल जाते हैं जैसे : चुकरैंड, चुरंडी, चौंडा, चुंडा और उरैंड। सभी में पानी बाहर उड़ेलने की क्रिया है और इसीलिए ये सारे नाम उड़ेलने की ही झलक दिखाते हैं।

तालाब से नहर में उड़ैला गया पानी ढलान से बहाकर दूर-दूर ले जाया जाता है। पर कुछ बड़े तालाबों में, जहां मोखी के पास पानी

का दबाव बहुत ज्यादा रहता है, वहां इस दबाव का उपयोग नहर में पानी ऊपर चढ़ाने के लिए भी किया जाता है। इस तरह मोखी से निकला पानी कुछ हाथ ऊपर उठकर फिर नहर की ढाल पर बहते हुए न सिर्फ दूर तक जाता है, वह कुछ ऊपर दूर तक जाता है, वह कुछ ऊपर बने खेतों में भी पहुंच सकता है।

मुख्य नहर के दोनों ओर थोड़ी-थोड़ी दूरी पर कुएं भी बनाए जाते हैं। इनमें रहट लगाकर फिर से पानी उठा लिया जाता है। तालाब, नहर और कुआं तथा रहट की यह शानदार चौकड़ी एक के बाद एक कई खेतों को सिंचाई से जोड़ती चलती है। यह व्यवस्था बुंदेलखंड में चंदेलों-बुंदेलों के समय बने एक-एक हजार एकड़ के बरुआ सागर, अरजर सागर में आज भी काम दे रही है। बरुआ सागर ओरछा के नरेश उदित सिंह ने और अरजर सुरजन सिंह ने क्रमशः सन् 1737 तथा 1671 में बनवाए थे। इनकी नहरें आज उत्तर प्रदेश सिंचाई विभाग की प्रतिष्ठा बढ़ा रही हैं।

पानी की तस्करी? सारा इंतजाम हो जाए पर यदि पानी की तस्करी न रोकी जाए तो अच्छा खासा तालाब देखते ही देखते सूख जाता है। वर्षा से लबालब भरा, शरद में साफ सुथरे नीले रंग में डूबा, शिशिर में शीतल हुआ, बसंत में झूमा और फिर ग्रीष्म में? तपता सूरज तालाब का सारा पानी खींच लेगा। शायद तालाब के प्रसंग में ही सूरज का एक विचित्र नाम 'अंबु तस्कर' रखा गया है। तस्कर हो तो सूरज जैसा और आगर यानी खजाना बिना पहरे के खुला पड़ा हो तो चोरी होने में क्या देरी?

इस चोरी को बचाने की पूरी कोशिश की जाती है, तालाब के आगर को ढालदार बना कर। जब पानी कम होने लगता है तो कम मात्रा का पानी ज्यादा क्षेत्र में फैले रहने से रोका जाता है। आगर में ढाल होने से पानी कम होते हुए भी कम हिस्से में अधिक मात्रा में बना रहता है और जल्दी वाष्प बनकर नहीं उड़ पाता। ढालदार सतह में प्रायः थोड़ी गहराई भी रखी जाती है। ऐसे गहरे गड्ढे को अखाड़ा या पियाल कहते हैं। बुंदेलखंड के तालाबों में इसे भर कहते हैं। कहीं-कहीं इसे बंडारौ या गर्ल के नाम से भी जाना जाता है। इस अंग का स्थान मुख्य घाट की ओर रखा जाता है या तालाब के बीचोंबीच। बीच में गहरा होने से गर्मी के दिनों में चारों ओर से तालाब सूखने लगता है। ऐसे में पानी घाट छोड़ देता है यह अच्छा नहीं दिखता। इसलिए मुख्य घाट की तरफ पियाल रखने का चलन ज्यादा रहा है। तब तीन तरफ से पानी की थोड़ी-बहुत तस्करी होती रहती है, लेकिन चौथी मुख्य भुजा में पानी बराबर बना रहता है।

ग्रीष्म ऋतु बीती नहीं कि बादल फिर उमड़ने लगते हैं। आगौर से आगर भरता है और सागर फिर बराबर बना रहता है।

सूरज पानी चुराता है तो सूरज ही पानी देता है।

साभार : आज भी खरे हैं तालाब
शेष अगले अंक में

खेत-खलिहान

3,08,000 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र के साथ मध्यप्रदेश भारत का दूसरा सबसे बड़ा राज्य है। यह भारत के उत्तर-मध्य हिस्से में बसा प्रायद्वीपीय पठार का एक हिस्सा है, जिसकी उत्तरी सीमा पर गंगा-यमुना के मैदानी इलाके हैं, पश्चिम में अरावली, पूर्व में छत्तीसगढ़ मैदानी इलाके तथा दक्षिण में तप्ती घाटी और महाराष्ट्र के पठार है।

मध्यप्रदेश के लिए कृषि वास्तविक अर्थों में जीवन रेखा रही है। विद्यालयों में पढ़ने वाले विद्यार्थी जब अपने राज्य के ऊपर निबंध लिखा करते थे तो उस निबंध का पहला वाक्य यही होता था कि “मध्यप्रदेश एक कृषि प्रधान राज्य है, यहां की तीन-चौथाई जनसंख्या कृषि और कृषि से जुड़े व्यवसाय के जरिये जीवनयापन करती है। और यही व्यावसायिक एकरूपता समाज को वास्तव में एक सूत्र में पिरोने का काम करती है।”

परंतु वर्तमान परिस्थिति में, उपर्युक्त पंक्तियां निश्चित रूप से राज्य के वास्तविक रूप को पेश नहीं करती हैं। राज्य का वास्तविक स्वरूप इससे कोसों दूर है। परंपरागत खेती-किसानी जैसी साझी विरासत का वृहद रूप जिसकी हमारे समाज में एक बहुत-बड़ी भूमिका हुआ करती थी धीरे-धीरे अब हाशिए में खिसकता जा रहा है। अब कृषि जीवनयापन की संस्कृति नहीं रह गई है बल्कि एक चुनौतीपूर्ण व जोखिम भरा काम बन चुका है। किसान स्वयं उत्पादक के बजाय बाजार का उपभोक्ता बन गया है।

आई.एस.डी. के चार साथी इन परिस्थितियों को समझने व एक्सपोजर विजिट के लिए जैव विविधता के अग्रदूत बाबूलाल दाहिया जी' से मिलने उनके निवास स्थान पिथौराबाद (जिला सतना) गए। जहां सवाल-जवाब हुए व भ्रमणों के दौरान डांडी, पनिहाई, गढ़ौत, उचेहरा, डोंगरिया गाँवों में गए व विभिन्न लोगों से बातचीत की।

सवाल जवाबों के दौर व भ्रमणों के दौरान मालूम हुआ कि दाहिया जी सन् 2006 में आदिवासी लोकगीतों, लोककथाओं व मुहावरे-लोकोक्तियों (बघेली भाषा) के संग्रहण हेतु कार्य कर रहे थे और इसी कार्य के सिलसिले में उन्हें आदिवासी क्षेत्रों में भ्रमण करना पड़ता था। तब उन्होंने यह जाना कि समाज से मात्र लोकगीत, लोककथाएं, मुहावरे-लोकोक्तियों ही नहीं खत्म हो रहे हैं, बल्कि “लोक अनाज” व “खेती-किसानी के परंपरागत तरीके” भी खत्म हो रहे हैं, जिन्होंने दुर्भिक्ष के समय हमारी पुरानी पीढ़ियों को जिंदा रखने का कार्य बखूबी निभाया था। उदाहरणार्थ सांवा व कुटकी इस मायने में सर्वोपरि आते हैं। कुटकी की विशेषता यह है कि इसका चावल भी बनता है और रोटी भी। यह दोनों लोक अनाज तुरंत राहत प्रदान करने वाले होते थे। अगर कोदो का उदाहरण लें तो कोदो को किसान अकाल दुर्भिक्ष के समय के लिए सुरक्षित रख लेता था और वह दूसरे अनाजों को खाता रहता था। कोदो लगभग 80 वर्ष तक सुरक्षित रखा

जा सकता है। इन परंपरागत लोक अनाजों व खेती-किसानी के परंपरागत तरीकों से ही अनेकानेक लोकगीत, लोककथाएं, मुहावरे-लोकोक्तियों भी जुड़ी हुई हैं। जब साझी विरासत का परंपरागत रूप खेती-किसानी समाप्त होगा तो निश्चय ही यह चीजें भी लुप्तप्राय होती जाएंगी। इन दोनों के आपसी रिश्ते ने ही दाहिया जी को खेती-किसानी के परंपरागत तरीकों व लोक-अनाजों के ऊपर कार्य करने के लिए प्रेरित किया।

शुरुआत में दाहिया जी द्वारा बीजों को एकत्र करने का कार्य शुरू किया गया तब इन्हें विभिन्न अनाजों की मात्र दो-दो, तीन-तीन प्रजातियां ही मिलीं। ज्वार की 10 के आसपास प्रजातियां मिलीं लेकिन सबसे ज्यादा खतरा धान पर महसूस हुआ। क्योंकि प्राचीन काल में धान की हमारे देश में एक लाख दस हजार प्रजातियां (धान के 52 करेक्टरों के आधार पर इन प्रजातियों का निर्धारण किया गया है) हुआ करती थीं। 1965 के आसपास विभिन्न लोगों के अध्ययनों के आधार पर धान की 23 हजार प्रजाति मिलीं। और आज की तारीख में पूरे भारतवर्ष में यह मात्र दो हजार प्रजातियां शेष हैं। धानों की आधुनिक बौनी किस्मों ने परंपरागत धानों को खत्म कर दिया। तब विशेष रूप से धान के बीजों का संकलन करने का निश्चय किया गया। शुरुआत में धान की मात्र 10-12 प्रजातियां ही उपलब्ध हो पाईं लेकिन जब वह संकलन के उद्देश्य से अलग-अलग क्षेत्रों जैसे सतना, पन्ना, रीवा और शहडोल (यह एक जैसी जलवायु वाले क्षेत्र हैं) गए तो 30-35 प्रजातियां मिलीं। धीरे-धीरे, बढ़ते-बढ़ते यह संख्या 60 तक पहुंची और आज वर्तमान में धान की 110 प्रजातियों का भंडारण इनके पास सुरक्षित है। जिसमें कुछ सुगंधित हैं तो कुछ बिना सुगंध की। कम अवधि में पकने वाली किस्मों से लेकर लंबी अवधि की किस्में हैं। 70 से 75 दिन में पकने वाली सरया, सिकिया, श्यामजीर, डिहुला, सरेखनी किस्में हैं तो मध्यम समय में 100 से 120 दिन में पकने वाली नेवारी, झोलार, करगी, मुनगर, सेकुरगार आदि हैं। इसके अलावा 120 से 130 दिनों में पकने वाली बादल फूल, केराखम्ह, विष्णुभोग, दिलबक्सा आदि किस्में शामिल हैं। देशी धान की खासियत बताते हुए वे कहते हैं कि वह बहुत स्वादिष्ट होती हैं। इसलिए दाम भी अच्छा मिलता है। जबकि हाईब्रीड में स्वाद नहीं होता। देशी धान में गोबर खाद डालने से धान की पैदावार हो जाती है। जबकि हाईब्रीड या बौनी किस्मों में रासायनिक खाद डालनी पड़ती है। जिससे लागत बढ़ती है और भूमि की उपजाऊ शक्ति भी कम होती है।

दाहिया जी द्वारा जब इस दिशा में कार्य करना शुरू किया गया तो कुछ आदिवासी क्षेत्रों में लोग आधुनिक बीजों व तकनीकों की तरफ सभा सम्मेलनों व उनके प्रलोभनवश आकर्षित हो चुके थे लेकिन जब सूखा पड़ा और इनका प्रचार-प्रसार इन क्षेत्रों में हुआ तो

उन्हें लोकज्ञान की बातों ने काफी आकर्षित किया। दूसरे आधुनिक बीजों का सही परिणाम हासिल न होना भी एक तरह से कारगर सिद्ध हुआ और लोगों का आधुनिक खेती-किसानी के प्रति मोह-भंग हुआ और वे लोग परंपरागत कृषि की ओर दोबारा आकर्षित होने लगे। शुरुआत में यह कार्य स्वांत-सुखाय के तहत अपने गाँव से अपने ही खेत से शुरू किया गया। फिर पांच पंचायतों के छह-सात गाँव शामिल हुए और धीरे-धीरे आज की तारीख में यह संख्या 50 गाँवों के आंकड़े को छू रही है।

वर्तमान में इनके संरक्षण में खास दिक्कतों में पहली समस्या सूखे की है और दूसरे जानवरों की (मुख्यतः सूअर)। इसलिए बीजों के संरक्षण के मद्देनज़र ही एक “सामुदायिक बीज बैंक” का निर्माण भी किया गया है। बीजों को भंडारण केंद्र में एयर टाइट डिब्बों में रखा जाता है। डिब्बों में रखते वक्त उन बीजों के साथ एक खास किस्म की गोलियों को उनके साथ रख दिया जाता है जोकि डिब्बे में नमी सोखने का काम करती हैं, क्योंकि बीज नमी के कारण ही खराब होता है। इस बीज भंडार का सबसे बड़ा फायदा यह है कि यहां विभिन्न प्रजातियों को पांच साल तक के लिए सुरक्षित रखा जा सकता है। जबकि बीज भंडार के बिना विभिन्न प्रजातियों को जिंदा रखने के लिए छोटे-छोटे भूखंडों में उगाकर उन्हें जीवित रखने का प्रयास करना पड़ता था। इसके अलावा सूखा पड़ने पर बीजों के विलुप्त होने का खतरा तो बरकरार रहता ही था।

किसानों द्वारा भंडारण केंद्र में बीज लाने पर पहले उसका टेस्ट किया जाता है कि इन बीजों में जर्मिनेशन कितना प्रतिशत है। ताकि जर्मिनेशन कम होने पर किसानों को पहले बता दिया जाए कि इसे कितनी अधिक मात्रा में बोना है ताकि फसल सही मात्रा में हो सके।

बीजों के संरक्षण व संवर्धन के मद्देनज़र दाहिया जी ने अपने लगभग दो एकड़ खेतों में प्रयोग किया। प्रयोग के तहत उन्होंने एक एकड़ में धान की कुछ परंपरागत फसलें उगाईं तो एक एकड़ में आधुनिक धान आई-आर-36 बोई। खेतों में कोई सिंचाई नहीं की गई। परिणाम के तौर पर परंपरागत फसलों ने जहां एक ओर जलवायु के अनुसार अपने अस्तित्व को बचाए रखा और वे विकसित हुईं क्योंकि परंपरागत धान ऋतु से संचालित होती है जबकि आधुनिक प्रजाति की धान ऋतु से संचालित न होकर दिनों के हिसाब से पकती है। इसके अलावा पुरानी प्रजाति को अधिक पानी भी नहीं चाहिए।

वर्तमान में जैव-विविधता संबंधित यह कार्य दो जिलों सतना और पन्ना के 50 गाँवों में हो रहा है। दाहिया जी ने जैव-विविधता के संरक्षण के मद्देनज़र वनों से विभिन्न किस्मों की लगभग 250 प्रजातियां लेकर एक बाग में उगा रखी हैं। जिसका संरक्षण राम लोटन कुशवाहा नामक व्यक्ति की देखरेख में होता है जिन्हें दाहिया जी की संस्था की तरफ से अनुदान दिया जाता है। संवर्धन की नीति के तहत इन प्रजातियों को वह स्कूल-कालेज आदि में वितरण करते

हैं। दाहिया जी के प्रयासों व हासिल परिणामों के फलस्वरूप ही उन्हें इस कार्य में सतना जिले में यूएनडीपी व पन्ना जिले में मध्य प्रदेश राज्य जैव विविधता बोर्ड सहयोग कर रहे हैं।

जैव-विविधता की प्रचार-प्रसार की रणनीति के तहत दाहिया जी व उनके साथियों द्वारा समय-समय पर गोष्ठियों की जाती हैं, बैठकें आयोजित की जाती हैं। इन गोष्ठियों व बैठकों में लोकज्ञान की बातों से लोग आकर्षित होते हैं। इसके अलावा ग्रामीण स्तर पर ढाबों आदि जैसी जगहों पर अनौपचारिक चर्चाएं की जाती हैं, जिसके प्रति लोग दिलचस्पी दिखाते हैं। एक तरह से साझी विरासत के रूप खेती-किसानी के प्रचार-प्रसार को इन्होंने अपनी जीवन-शैली ही बना लिया है।

इसी प्रचार-प्रसार के परिणाम-स्वरूप खेती-किसानी के परंपरागत रूप की ओर आकर्षित होकर राज्य के दूसरे जिलों से भी इस दिशा में काम करने के प्रस्ताव आ रहे हैं। पर यह कार्य इतना आसान नहीं है।

दाहिया जी द्वारा किए गए कार्य का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई दे रहा है। किसानों को उनकी फसलों के लिए अच्छी कीमत मिल रही है। उच्च गुणवत्ता युक्त बीज उन्हें सही समय और स्थान पर उपलब्ध हैं। लाभ प्रतिशत में वृद्धि के साथ, बीज प्रणाली में किसान अब उद्यमी बन गए हैं और उन्होंने बाजार के तकनीकी पहलुओं की खोज करनी भी शुरू कर दी है।

इस एक्सपोज़र विजिट के माध्यम से स्वाभाविक तौर पर यह निष्कर्ष सामने आया कि जरूरत के अनुरूप कृषि के विकास के लिए राज्य और समाज दोनों के स्तर पर सघन प्रयास नहीं हुए हैं। राज्य ने इस दिशा में आयातित तकनीकों और उत्पादन को विस्तार देने की रणनीति अपनाई जो वास्तविकता से कोसों दूर हैं, तो वहीं दूसरी ओर समाज ने अपनी जरूरत को पूरा करने के लिए राज्य पर दबाव नहीं बनाया।

1. बाबूलाल दाहिया जी, जोकि मुख्यतः साहित्यकार हैं व प्रगतिशील लेखक मंच के जिला अध्यक्ष भी।
2. दाहिया जी ने खेती-किसानी और मौसम से जुड़ी लोकोक्ति, मुहावरे और कहावतों का अनूठा संग्रह किया है जिसे पुस्तक (सयानन के थाती) के रूप में मध्य प्रदेश राज्य जैव विविधता बोर्ड ने प्रकाशित किया है।
3. दाहिया जी ने नवंबर, 2005 में खजुराओ (म.प्र.) में आई.एस.डी. द्वारा आयोजित “साझी विरासत” की कार्यशाला में सहभागिता निभाई थी और उसी दौरान सा.वि. के संरक्षण, संवर्धन के तहत बघेलखंड की कार्यनीति में लोकगीतों, लोकोक्तियों, मुहावरों के संकलन व लोक अनाज के संरक्षण की कार्यनीति बनाई थी।

रास्का-रांसो पोरब

“रास्का-रांसो पोरब” अर्थात् हर्ष व उल्लास का पर्व। साझी विरासत के हर्ष व उल्लास के इस पर्व को यूं मात्र दो वर्ष बीते हैं लेकिन, यह दो वर्ष कुछ मायनों में अति महत्वपूर्ण हैं जिन्हें आई.एस.डी. के साथियों ने बिरसा बस्ती, निकट मरीन ड्राइव, जमशेदपुर में जाकर जाना समझा। हर्ष व उल्लास का प्रतीक रास्का-रांसो पोरब मात्र एक सांस्कृतिक पर्व नहीं है बल्कि, अपनी लोकविधाओं को बचाने का प्रयास व उस प्रयास के फलस्वरूप हासिल परिणाम की प्रस्तुति भी है। आज वर्तमान में जिस तरह से समाज के अंदर आपसी दूरियां बढ़ती जा रही हैं उन दूरियों को कम करने का पर्व है। बस्ती में लोग जिन हालात में जीते हैं उनके बीच उन हालात के प्रति जागरूकता का पर्व है।

नशे की गर्त में समाये बस्ती के युवाओं को नया जीवन प्रदान कर लोकनृत्य (छऊ नृत्य) व विभिन्न विधाओं के साथ जोड़कर आई.एस.डी. (इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी) के युवा साथी गौतम गोप सिद्धू-कान्हू बस्ती में लोकपाठशाला का संचालन कर रहे हैं। लोकपाठशाला संचालन का उद्देश्य ही है नयी पीढ़ियों को उनके समुदाय के विभिन्न लोक कलाओं से जोड़ना, उनमें संभावित हुनर और व्यक्तित्व को उजागर करना। इस कोशिश की एक छोटी पर महत्वपूर्ण उपलब्धि की एक रपट।

लोक पाठशाला में बच्चों को अभिनय कला का भी प्रशिक्षण दिया जाता है। इसी बीच पाठशाला में बच्चों ने आना शुरू किया जो डेन्डराईड सूँघने के आदी थी। डेन्डराईड नशे के एक सस्ते विकल्प के रूप में इनमें काफी प्रचलित है। ये बच्चे चोरी भी करते थे। इन बच्चों के साथ परिवार और समुदाय का रवैया भी तिरस्कारपूर्ण था। इन्हें समाज की मुख्यधारा से जोड़ना बड़ी चुनौती थी। इन बच्चों को लोक पाठशाला में आने से कई बच्चों के माता-पिता ने अपने बच्चों को वहां भेजना बंद कर दिया। इन बच्चों को सुधारने के लिए कुछ प्रयोगात्मक करने का ख्याल आया और पांच दिन की नाटक कार्यशाला चलाने की शुरुआत हुई। नशे की लत के कारण ये बच्चे दिनभर की कार्यशाला में मुश्किल से 2-3 घंटे ही रहते। तब इनकी क्षमता और रुचि को ध्यान में रखते हे एक नाटक बनाया गया कलाकार की खोज। छऊ नाच पर आधारित इस नाटक में ऐसे बच्चों की कहानी थी जो नाच सीखना चाहते हैं। इसके लिए इन बच्चों को नाच सीखने के लिए प्रोत्साहित किया गया। बच्चों ने नाच सीखने को चुनौती के रूप में लिया और धीरे-धीरे ये बच्चे नाच सीखने और नाटक सीखने में इस तरह सहभागिता निभाने लगे कि चोरी जैसे अपराधिक गतिविधियों से जुड़ाव खत्म होने लगा।

इसी बीच नाटक पूरी तरह तैयार हो गया और उसका मंचन किया गया जिसमें नशा करने वाले बच्चों के माता-पिता को खासतौर पर आमंत्रित किया गया। उन बच्चों का नाटक देख उनके माता-पिता बहुत खुश हुए। पत्र-पत्रिकाओं में इसे अच्छा कवरेज मिला। बच्चों की तस्वीरें छपीं, जिसका इन बच्चों पर बहुत सकारात्मक प्रभाव पड़ा और 13 बच्चों ने डेन्डराईड का नशा छोड़ दिया।

रिमझिम बरसे मेह

कहाँ होती है उर्दू वाली रामलीला

दिल्ली के पास बसे फरीदाबाद में एक रामलीला ऐसी भी होती है जहां आज भी आपको लख्ते-जिगर और संग दिल जैसे शब्द सुनने को मिलेंगे। रामायण की असली कहानी तो संस्कृत में लिखी गई थी लेकिन समय के साथ उसकी जुबान बदलती रही है। लेकिन फरीदाबाद की विजय रामलीला कमेटी के आयोजकों ने उस स्क्रिप्ट को नहीं छोड़ा है जो उनके बुजुर्ग बंटवारे के समय पाकिस्तानी पंजाब से साथ लेकर आए थे।

कमेटी प्रमुख विश्व बंधु शर्मा मंझे हुए संगीतकार हैं। वे कहते हैं, ‘हमारे बुजुर्ग जब बंटवारे के बाद पाकिस्तानी पंजाब से यहां आए तो उर्दू भाषा की यह स्क्रिप्ट अपने साथ लाए थे; तब से हमने इसमें मामूली बदलाव किए हैं लेकिन आधार वही है। हम इस परंपरा को बनाए रखना चाहते हैं।’

मुश्किल उर्दू की जगह अब आसान जुबान ने लेनी शुरू कर दी है, लेकिन पूरी तरह नहीं।

रामलीला के अभिनेता कहते हैं, ‘शुरु में तो हमें कुछ कठिनाई हुई थी, लेकिन अब नहीं, हमने अपने बुजुर्गों से सीखा है और अब उर्दू के शब्द अपने दैनिक जीवन में भी इस्तेमाल करते हैं।’

■ सुहेल हलीम

इस रामलीला में उर्दू के इस्तेमाल की कहानी पुरानी भी है और दिलचस्प भी। विश्व बंधु शर्मा कहते हैं कि भाषा सब की समझ में आए इसकी कोशिश भी की गई है। ‘मौत का तालिब हूँ मैं, मेरी लबों पे जान है, दो घड़ी का यह मुसाफिर आपका मेहमान है ... तो इसमें ऐसी कौन सी बात है जो समझ में नहीं आती, हमारी कोशिश है कि यह परंपरा जीवित रहे और इस स्क्रिप्ट में ज्यादा बदलाव न हो।’

नई पीढ़ी उर्दू लिखना और पढ़ना नहीं जानती, लेकिन इस रामलीला की अनोखी पहचान बनाए रखने के लिए आयोजक कमर कसे हैं। फरीदाबाद के पूर्व मेयर अशोक अरोड़ा उन लोगों में शामिल हैं जिनके बुजुर्गों ने पाकिस्तान से आने के बाद उर्दू में रामलीला शुरू की थीं। वे कहते हैं, ‘उर्दू बहुत प्यारी भाषा है, लगती बहुत मुश्किल है लेकिन है बहुत आसान।’

विश्व बंधु शर्मा और उनके साथी अपनी परंपरा को कायम रखने के लिए नई पीढ़ी को उर्दू और संस्कृत की शिक्षा देने के बारे में सोच रहे हैं। वो कहते हैं, ‘हम चाहते हैं कि यहां ऐसे विद्वान लाएं जो स्थानीय लोगों को उर्दू और संस्कृत की शिक्षा दें, यह दोनों भाषाएँ भारत को जोड़कर रखती हैं।’

दादरी कांड - बिसारा गाँव से एक रपट

यह रिपोर्ट दादरी में गाय के मांस से जुड़ी अफवाह और सम्बद्ध हत्याकांड के ऊपर है। इसे न्यू सोशललिस्ट इनिशिएटिव, पीपुल्स अलायन्स फॉर डेमोक्रेसी एंड सेकुलरिज्म, सहेली, और डेल्ही सॉलिडेरिटी ग्रुप के एक सम्मिलित जांच दल ने तैयार किया है। प्रस्तुत रिपोर्ट को दिनांक 5/10/2015 को जारी किया गया।

28 सितम्बर की रात पश्चिमी उत्तर प्रदेश के दादरी जिले के बिसारा गाँव में घृणा आधारित (हेट क्राइम) अपराध की एक जघन्य घटना को अंजाम दिया गया। इस अफवाह की बिना पर कि गाँव के रहने वाले मुहम्मद अखलाक और उनके परिवार ने गाय के बछड़े को मारकर उसका मांस खाया है, गांव वालों की एक उन्मत्त भीड़ ने उन्हें मौत के घाट उतार दिया और उनके बेटे के साथ भी बर्बरता के साथ मार-पीट की। उन्हें मारने के कुछ ही देर पहले वहीं के एक स्थानीय मंदिर से इस अफवाह को जल्द से जल्द फैलाने के लिए एक घोषणा की गयी थी। इस घोषणा के कुछ ही देर बाद, चंद ही क्षणों में वहाँ एक भीड़ इकट्ठा हो गयी जो फिर मुहम्मद अखलाक पर टूट पड़ी और उन्हें मौत के घाट उतार दिया। उस रात के बाद से अखलाक के बेटे दानिश अस्पताल में भर्ती हैं और दो बार सर का ऑपरेशन किये जाने के बावजूद भी उनकी हालत चिंताजनक बताई जा रही है।

छ: एक्टिविस्टों की हमारी टीम दादरी के बिसारा गाँव में 3 अक्टूबर 2015 को पहुंची। इस दिन के बारे में यह खबरें थीं की गाँव में मीडिया का प्रवेश रोकने के लिए हजारों के करीब महिलाओं को संगठित किया गया है। कथित रूप से गाँव का नाम बदनाम करने के लिए और गाँव के सामान्य जीवन क्रम को भंग करने के लिए इन महिलाओं ने मीडिया कर्मियों और मीडिया की गाड़ियों पर पथराव भी किया।

हम बिसारा गाँव दोपहर में पहुंचे और गाँव की ओर जा रही सड़क पर हमें मीडिया की कुछ गाड़ियां भी खड़ी मिलीं। जैसे-जैसे हम गाँव की ओर बढ़ते गए पुलिस की उपस्थिति भी बढ़ती गयी। एक जगह हम गाँव के माहौल पर पुलिस से बात करने के लिए रुके और हमें दो टूक शब्दों में ये बताया गया की गाँव वाले गाँव में बाहरियों के आने पर बेहद गुस्से में हैं और हमें भी गाँव जाने पर किसी

भी प्रतिक्रिया के लिए तैयार रहना चाहिए। पुलिस ने काफी ज़ोर देकर हमें ये हिदायत दी कि हम गाँव में न जाएँ और हमें यह भी चेताया कि यदि हम ऐसा करते हैं और कोई घटना घटती है तो उसके लिए पुलिस जिम्मेदार नहीं होगी।

गाँव के प्रधान संजीव राणा से फोन पर बात करने के बाद ही हम गाँव की ओर बढ़ सके। उन्होंने किसी को हमें सुरक्षापूर्वक उनके घर लिवा ले जाने के लिए भेजा जहाँ हम उनके अलावा गाँव के कुछ और आदमियों से भी मिले। उसके बाद हम मुहम्मद अखलाक के घर गए और उनके परिवार से मिले। हम कुछ देर जिलाधिकारी के द्वारा बुलाई गई गाँव के बुजुर्गों की मीटिंग में भी उपस्थित रहे पर जब यह पता चला कि हम गाँव से नहीं हैं तो हमसे ये कहकर वहाँ से जाने के लिए कहा गया कि वे इस मसले को आतंरिक स्तर पर ही हल करना चाहते हैं। इसके अलावा हमारी आसपास मौजूद कुछ और आदमियों से भी बातचीत हुई।

क . बिसारा गाँव : कुछ तथ्य

बिसारा पश्चिमी उत्तर प्रदेश में स्थित एक बड़ा गाँव है। यहाँ एक इंटर कॉलेज है, एक बाजार है और आसपास के इलाकों में कई औद्योगिक संयंत्र भी हैं। गाँव के बिल्कुल पास से एक नहर गुजरती है और यहाँ का कृषि आधारित अर्थतंत्र खूब फलता-फूलता प्रतीत होता है। हालाँकि हमें यह भी बताया गया कि गाँव के कई मर्द गाँव के बाहर भी काम करते हैं। इस इलाके को हाल में ही ग्रामीण क्षेत्र से बदलकर शहरी क्षेत्र के अंतर्गत रखा गया है। यह अब ग्रेटर नोएडा 'नगर प्रशासनिक क्षेत्र' का हिस्सा है और इसकी वजह से अब यहाँ ग्रामीण पंचायत चुनाव दोबारा नहीं होंगे।

कुल जनसंख्या सम्बन्धी हमें जो आंकड़े मिले वे यहाँ की आबादी 15000 और 18000 के बीच ठहराते हैं। इनमें से करीब 300 मुसलमान बताये जाते हैं। यहाँ की सबसे प्रभुत्वशाली जाति, ज्यादातर ज़मीनें जिसके हिस्से आती हैं, राजपूत (जो अपने नाम के आगे राणा उपनाम लगाते हैं) हैं। हमें यह भी बताया गया की यहाँ सौ से ऊपर जाटव परिवार भी हैं और लगभग इतने ही वाल्मीकि परिवार भी। ऐसा मालूम पड़ता है कि यहाँ के ज्यादातर मुसलमान भूमिहीन कारीगर हैं।

मोहम्मद अखलाक की गाँव के इंटर कॉलेज के सामने एक दूकान थी जहाँ वे लोहे के औजारों की मरम्मत का काम करते थे। गाँव के मुख्य हिस्से में, गाँव के प्रधान के घर के पीछे एक

संकरी गली में, तीन मुस्लिम परिवार रहते हैं। अखलाक़ का परिवार इन्हीं में से एक था। बाकि सारे मुस्लिम परिवार गाँव के दूसरे हिस्से में रहते हैं। गाँव में एक पुरानी मस्जिद है (करीब 70-80 साल पुरानी) और एक ईदगाह भी। बहुत संभव है कि 1947 के पहले यहाँ बड़ी संख्या में मुस्लिम राजपूत रहते हों जो विभाजन के बाद पाकिस्तान चले गए। हमें यह बताया गया कि अब वहाँ रह रहे मुसलमान सैफ़ी हैं, जोकि मुस्लिम लोहारों की एक जात होती है।

ख. गाँव में फैली कहानियाँ

(1) गाँव के बाहर नहर के पास हमारी जिन तीन नौजवानों से बातचीत हुई उन्होंने हमें दबे स्वर में यही बताया कि अखलाक़ के फ्रिज में रखा मांस गाय का ही था। वे बार बार यही दोहरा रहे थे कि, 'बड़े खुर, कान और सफ़ेद चमड़ी, यह गाय नहीं तो और क्या हो सकता है!!' उन्होंने कहा कि उन्होंने यह बातें उन लोगों से सुनी हैं जिन्होंने यह सब अपनी आँखों से देखा है। उन्हें हत्या पर ज़रा सा भी पछतावा नहीं था।

ये तीन लड़के गाँव के इंटर कॉलेज में पढ़ने वाले ग्यारहवीं/बारहवीं के छात्र थे। हमारे पूछने पर कि ठीक-ठीक क्या और कैसे हुआ था उनकी पहली प्रतिक्रिया यह थी कि जो हुआ वो अच्छा और बुरा दोनों ही था। बुरा इसलिए क्योंकि किसी की जान गयी और अच्छा इसलिए कि गाय की हत्या करके अखलाक़ ने हिन्दुओं के भरोसे को तोड़ा था। ईदगाह और मस्जिद दोनों हिन्दू ज़मीन पर स्थित हैं पर बहुसंख्यक समुदाय की इस कृपा के बावजूद जो अखलाक़ ने किया वह 'जिस थाली में खाना उसी थाली में छेद करना' के बराबर है। इन तीन लड़कों ने काफी ज़ोर देते हुए यह भी कहा कि, 'अखलाक़ के परिवार को नया घर मिल जायेगा, सरकार से मुआवजा मिल जायेगा, वे भला और क्या चाहते हैं?'

(2) अपनी मोटरसाइकिल पर दूध के डिब्बे लादे एक आदमी ने हमसे जमकर बहस की। उसका कहना था कि मीडिया का गाँव के सामान्य जीवन क्रम को इस तरह प्रभावित और अस्त-व्यस्त करना बिल्कुल भी ठीक नहीं है। उसका बार-बार यही कहना था कि 'हमारे बच्चे स्कूल और कॉलेज नहीं जा पा रहे हैं और गाँव के एक आतंरिक मसले को बेवजह इतना तूल देकर एक बड़े मुद्दे में बदला जा रहा है।' हालाँकि हमने यह बाद में देखा कि दो 7-8 साल की लड़कियाँ ड्रेस पहने और बड़े स्कूल बैग लिए चली आ रही हैं, पर ये भी संभव है कि वे किसी निजी स्कूल से या ट्यूशन से लौट रही हों। गाँव की मुख्य सड़क पर स्थित इंटर कॉलेज के नज़दीक एक नयी और भारी-भरकम नाम-पट्टिका के साथ एक 'सरस्वती शिशु मंदिर' विद्यालय भी खुला हुआ है।

(3) गाँव के प्रधान और दूसरे भी बार-बार इसी बात पर ज़ोर देते रहे कि कैसे हिन्दुओं ने हमेशा गाँव के मुसलमानों की सहायता की है। प्रधान ने यह भी बताया कि उन्होंने गाँव की मस्जिद के नवीनीकरण और देख-रेख के लिए अपनी जेब से 40,000 रु दिए थे क्योंकि गाँव के मुस्लिम समुदाय के पास इस काम को करने के लिए आवश्यक संसाधनों की कमी थी। उन्होंने यह भी कहा कि गाँव के अन्य राजपूतों ने भी इस कार्य में अपना योगदान दिया था। इस सौहार्द का एक और उदाहरण देते हुए प्रधान ने एक घटना का हवाला दिया जब पिछले साल गाँव की एक मुस्लिम महिला (जो गाँव के बाहर ब्याही थी) की सड़क दुर्घटना में मौत हो जाने पर गाँव के राजपूत दादरी में धरने पर बैठ गए थे। उनका कहना है कि गाँव के पुरुष आज भी उस विरोध प्रदर्शन के कारण कोर्ट केस का सामना कर रहे हैं।

जब हमने प्रधान से पूछा कि उनके अनुसार क़त्ल की रात का घटनाक्रम क्या था तो उन्होंने जवाब दिया कि वे उस रात गाँव से दो किलोमीटर दूर स्थित अपने फार्महाउस में थे। उनका कहना है कि इस घटना के बारे में उन्हें जब तक पता चलता तब तक गाँव के मंदिर से घोषणा की जा चुकी थी और भीड़ अखलाक़ के घर की ओर बढ़ चुकी थी। वे आगे जोड़ते हुए बोले कि जब तक वे गाँव पहुंचते अखलाक़ की मौत हो चुकी थी। उनके अनुसार इस घटना में केवल गाँव के नौजवान ही शामिल थे, बुजुर्गों को तो इसकी जानकारी हत्या के बाद ही मिली।

(4) अखलाक़ के दोस्तों और रिश्तेदारों का यह कहना है कि उन्हें इसलिए निशाना बनाया गया क्योंकि वे तुलनात्मक रूप से एक संपन्न मुस्लिम परिवार थे। अखलाक़ के बड़े भाई ने डीएम की बुलाई हुई गाँव के बुजुर्गों की मीटिंग में गाँव में हाल में बढ़ती गुंडागर्दी, पीने के बाद उत्पात मचाने की प्रवृत्ति, और छोटी-मोटी आपराधिक घटनाओं में होती बढ़ोत्तरी की बात की। पर गाँव वालों ने इस सन्दर्भ में कोई पहल नहीं की है।

गाँव के बुजुर्गों के साथ मीटिंग में डीएम की कोशिश यह थी कि वे अपराधियों के नाम का खुलासा कर दें। उनका कहना यह था कि जो नौजवान इस अपराध में शामिल हैं वे कल अपने ही लोगों और परिवारों के लिए खतरा बन सकते हैं। उनके अनुसार उन्होंने बीते कुछ दिनों में मीडिया को गाँव में इसलिए आने दिया क्योंकि वे यह प्रतीत होने देना नहीं चाहते थे कि प्रशासन कुछ छुपाने की कोशिश कर रहा है। पर अब से केवल वे लोग जिन्होंने पुलिस के कमांडिंग अधिकारी से आज्ञा ले ली है और जिनसे अखलाक़ का परिवार मिलना चाहता है उन्हें ही गाँव में आने दिया जायेगा। हम जो एक किनारे खड़े होकर इस मीटिंग को देख रहे थे उन्हें डीएम ने वहाँ से ये कहते हुए जाने के लिए कहा कि यह गाँव की एक 'आतंरिक' सभा है।

भीड़ में कितने लोग थे इसके भिन्न-भिन्न अनुमान हमें सुनने को मिले। जहाँ प्रधान का कहना था कि इस भीड़ में 2000 से लेकर 2500 लोग मौजूद थे वहीं उपरोक्त मीटिंग में दो अलग-अलग अनुमान सामने रखे गए। एक बुजुर्ग हिन्दू पुरुष के अनुसार इस भीड़ में 500 के करीब लोग थे वहीं खुद डीएम का अंदाज़ा यह था कि यह भीड़ 500 से लेकर 1500 आदमियों तक की थी।

(5) ऊपरी तौर पर तो बहुत से लोगों ने जिनसे हम मिले अखलाक की हत्या पर खेद प्रकट किया। पर गाँव में पछतावे के कोई भी प्रकट चिन्ह देखने को नहीं मिले। जहाँ बहूतों ने ये कहा कि यह एक दुर्भाग्यपूर्ण घटना है वहीं उन्हीं लोगों ने यह भी जोड़ा की मीडिया के द्वारा इसे अनावश्यक तूल देकर इसे एक बहुत बड़े मुद्दे में बदला गया है जिससे 800 साल पुराने इस कथित रूप से 'शांतिप्रिय' गाँव की इज्जत पर बड़ा लगा है और इसका नाम खराब हुआ है।

(6) पछतावे की बात तो छोड़िये लोग तो हमें इस बात पर भी नाराज़ दिखे कि "मीडिया केवल अखलाक की मौत और उसके परिवार पर ध्यान दे रहा है। 'दूसरे पक्ष', यानि हिन्दुओं की तो कोई सुनवाई ही नहीं है। जिस तरह से हिन्दू नौजवानों को पुलिस यूँ ही उठा ले जा रही है उस पर तो कोई कुछ कह ही नहीं रहा।"

ग. हमारी पड़ताल

(1) मुहम्मद अखलाक के घर जाने वाली पतली सी गली बमुश्किल चार फीट चौड़ी है। इसमें एक बार में बीस से ज्यादा लोग नहीं आ सकते। यह संभव नहीं हो सकता की हमला करने वाली भीड़ में हज़ार से ऊपर लोग रहे हों। बल्कि यह ज्यादा मुमकिन लगता है कि इस जघन्य अपराध में कुछ ही लोगों का हाथ रहा हो। एक विशाल भीड़ का हवाला देने के पीछे बहुत संभव है कि इस जघन्य अपराध को सामान्य दिखाने का तर्क काम कर रहा हो और यह भी साबित करने की कोशिश हो कि इस हमले को व्यापक समर्थन प्राप्त था। भले ही इस भीड़ में कई नौजवान मर्द शामिल रहे हों पर यह स्पष्ट नज़र आता है अखलाक को चंद लोगों के समूह ने ही मारा होगा। एक बहुत बड़ी भीड़ का दावा अक्सर ही अपराधियों को बचाने के लिए ठोका जाता है। इस तरह से उनकी पहचान भीड़ के चेहरे में छुप जाती है।

(2) घर आपस में इतने पास हैं और सटे हुए हैं कि अखलाक का अपने घर में गाय के बछड़े को ज़िबह करना और पड़ोसियों को इसकी खबर भी ना होना गले के नीचे नहीं उतरता। दूसरी तरफ़ अगर अखलाक ने बछड़े को घर के बाहर कहीं ज़िबह किया था तब तो यह बात कि वो इतनी गोपनीयता के साथ ऐसा करने में सफल रहा पर फिर भी इतना मूर्ख था की कान और खुर के साथ पकड़ा गया भी उतनी ही अविश्वसनीय

लगती है। हम ऊपर इस तरह की अफवाह का ज़िक्र कर चुके हैं जो एक कोरी गढ़त के अलावा और कुछ नहीं नज़र आती। यहाँ मुख्य आख्यान में हम एक चतुराई भरा बदलाव देख सकते हैं। जहाँ पहले गाय की हत्या पर ज़ोर दिया जा रहा था वहीं अब ज़ोर अखलाक के घर में बीफ मिलने पर दिया जा रहा है।

(3) एक स्वतः उमड़ी भीड़ सामान्यतः इस तरह चुन कर नहीं मारती। अखलाक के भाई का घर भी बगल में ही था पर भीड़ ने उन्हें कोई नुकसान नहीं पहुँचाया। इसकी पूरी आशंका नज़र आती है कि ये अपराध एक स्वतः उमड़ी भीड़ के गुस्से का परिणाम नहीं था। इस अपराध को एक षडयंत्र के तहत अंजाम दिया गया था, जिसका पता कुछ ही लोगों को था पर जिन्हें यह स्पष्ट रूप से पता था की ज्यादातर लोग समय आने पर उनका विरोध नहीं करेंगे। जांच का तात्कालिक लक्ष्य यह होना चाहिए की इन लोगों की जल्द से जल्द पहचान की जाए और उन्हें जल्द से जल्द सजा दी जाए।

मीडिया रिपोर्टों में इस क्षेत्र में कई हिंदुत्ववादी संगठनों के सक्रिय होने की बात प्रकाश में आई है जोकि 'गो रक्षा' के नाम पर काम करते हैं। इस अपराध में इन संगठनों की भूमिका की पड़ताल होनी चाहिए।

बल्कि गाँव से बाहर निकलते हुए हमने गाँव की सड़क से हटकर एक पगडण्डी पर एक स्कार्पियो गाड़ी खड़ी देखी जिसके पीछे वाली विंडशील्ड पर एक बैनर लगा था जिस पर लिखा था, 'हिन्दू गो रक्षा दल।'

(4) मुहम्मद अखलाक का परिवार अकेला पड़ चुका है और बुरी तरह डरा हुआ है। हम उनके बड़े भाई, छोटी बहन, बड़े बेटे की बहु और अन्य रिश्तेदारों से भी मिले। बड़े भाई के अलावा इनमें से और कोई भी गाँव में नहीं रहता है। ये सब इस घटना के बारे में सुन कर गाँव आये थे। वे सब अखलाक के बेटे दानिश, जोकि अस्पताल में हमले में लगी चोटों से जूझ रहा है, और उनकी बयासी साल की चोटिल माँ के लिए बहुत परेशान हैं।

हम अखलाक की माँ और उनकी पत्नी से मिल नहीं सके पर हमारी अन्य दो औरतों से महिला पुलिस कांस्टेबल की उपस्थिति में संक्षिप्त बातचीत हुई। वे इस बात को लेकर बेहद सदमे और भय में हैं कि जिस जगह पर वे पीढ़ियों से रहते आये हैं वहाँ भी ऐसा हो सकता है। उन्होंने यह भी कहा कि कोई पड़ोसी और अन्य जानने वालों में से कोई भी किसी मदद के लिए या शोक जताने के लिए अब तक उनके पास नहीं आया है। उनका कहना था की वे अब इस गाँव में और नहीं रहना चाहते और यह भी कहा कि वे यह सोच कर भी डरे हुए हैं कि क्या होगा जब गाँव में पुलिस की मौजूदगी नहीं रहेगी।

उनके हिसाब से भीड़ में कई लोग थे जिनमें से तो कई जाने पहचाने चेहरे भी थे। अखलाक की बहन हमें घर के पहले

तल पर ले गयीं जहाँ भीड़ ने उन्हें 'छुपा' हुआ पाया था। जिन ईंटों पर एक डबल बेड टिका हुआ था उन्हीं से अखलाक़ पर और उनके बेटे पर हमला किया गया। वहाँ खून के छींटों के दाग थे, चावल बिखरा हुआ था, एक टूटी सिलाई मशीन थी, एक उल्टा हुआ फ्रिज और एक चारपाई थी; सब कुछ हमले के बाद की अवस्था में ही छोड़ दिया गया था। हमें यह भी बताया गया की कुछ लोग वहाँ शायद कुछ प्रमाण/साक्ष्य इकठ्ठा करने आये थे। अखलाक़ की बहन ने हमें बताया कि "उन लोगों ने उसकी बीवी और माँ की इज्जत पर हाथ डालने की भी कोशिश की।" पर समय और परिस्थितियों ने हमें इस विषय में औरतों से और चर्चा करने की मुहलत नहीं दी।

(5) गाँव में प्रधान ने शांतिपूर्ण सहअस्तित्व के आख्यान को फिर से दोहराया। इस बात पर जोर दिया की विभाजन के वक्त, या जब बाबरी मस्जिद गिराई गयी तब, या मुजफ्फरनगर दंगों के दौरान गाँव में कोई भी वाक़्या नहीं घटा था। ऐसा लग रहा था की इस इतिहास पे इसलिए 'बल' दिया जा रहा है ताकि किसी नियोजित हमले की बात को या संदेह को दबाया जा सके। इस तरह की बातें इसलिए भी की जा रही हैं ताकि बड़े तरीके से खुद अखलाक़ को अपने पर होने वाले गुस्से भरे हमले की वजह बताया जा सके। ये इशारा करने की चतुर कोशिश हो रही है की ये हमला ना होता अगर, जैसा की कहा जा रहा है या जैसी अफवाहें फैली हुयी हैं, अखलाक़ ने अपने घर पर गाय की हत्या ना की होती।

(घ) संक्षिप्त विश्लेषण

(1) राजपूतों के दबदबे वाले लगभग 15000 लोगों के गाँव में करीब 300 मुसलमानों की उपस्थिति के कारण हिन्दू सांप्रदायिक लामबंदी इतनी भी आसान नहीं थी। इसलिए गो हत्या की प्रभावी अफवाह का इस्तेमाल किया गया ताकि एक प्रभुत्वशाली खेतिहर जाति की हिन्दू अस्मिता को हवा देकर उन्हें समस्त मुसलमानों के विरुद्ध भड़काया जा सके। एक प्रभुत्वशाली जाति को यँ मुसलमानों के विरुद्ध लामबंद करने का ट्रेड 2013 के मुजफ्फरनगर दंगों के दौरान भी देखने में आया था।

(2) इस घटना को ऐसी ही अन्य घटनाओं से सिर्फ इस वजह से अलग करके नहीं देखना चाहिए की ये घटना इस गाँव में पहली दफा घटी थी। गो हत्या के विरुद्ध भारत में और विशेषकर उत्तर प्रदेश में बड़े स्तर पर एक सोचा-विचारा हुआ प्रचार पिछले कुछ दिनों से चल रहा है। हाल की घटना में आजमगढ़ में संघ परिवार के एक आदमी को मंदिर में गाय का मांस फेंकते हुए रँगे हाथों पकड़ा गया था। इसी तरह की घटनाओं और अफवाहों का पैटर्न हाल में ही मुजफ्फरनगर में, 2014 में दिल्ली के बवाना और नजफगढ़ में भी देखने में आया है। इसलिए शांतिपूर्ण इतिहास की कहानी ऊपरी तौर पर तो

सही हो सकती है, पर इससे यह नहीं समझना चाहिए की इस स्तर की 'अपने तरह की यह पहली घटना' केवल एक 'दुर्घटना' के तौर पर चंद नौजवानों की 'गर्म-दिमागी' के कारण घट सकती है।

(3) एक और तथ्य जो ऐसे अन्य मौकों पर भी देखने में आया है (मसलन मुजफ्फरनगर में) वह है बड़ी संख्या में औरतों का पूरी ताकत के साथ पुलिस और मीडिया के विरुद्ध बाहर निकलना और घेराबंदी करना। उनके ऐसा करने के पीछे 'मुस्लिम परिवार के प्रति सहानुभूति और हिन्दुओं के प्रति पूर्वाग्रह' रखने के कारण गिनाये जा रहे हैं। हालाँकि डीएम के साथ, शांति बनाये रखने के और दोषियों को पकड़ने के मद्देनज़र की गयी सभा में एक भी औरत मौजूद नहीं थी। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है की 'द हिन्दू' में छपी एक रिपोर्ट में दादरी (ग्रामीण) के एसपी ने यह पुष्टि की है कि शुक्रवार रात को ठाकुरों और राजपूतों ने दो मीटिंगें मीडिया के पक्षपातपूर्ण रवैये से निबटने के लिए रणनीति बनाने के लिए की।

हालाँकि यह पूरी तरह से आपराधिक षडयंत्र का मामला है, पर इस अपराध का सन्दर्भ पूरी तरह से राजनीतिक है क्योंकि यह भाजपा के 'बीफ बैन' के विशुद्ध राजनीतिक प्रचार से जुड़ा हुआ है। कई भाजपा मंत्री, सांसद और दूसरे भी इस अपराध की भयानकता से लोगों का ध्यान भटकाने के लिए इसे महज़ एक 'दुर्घटना' कहते आ रहे हैं (मसलन महेश शर्मा जो केंद्रीय मंत्री हैं और नोएडा से भाजपा के सांसद भी) या यँ लिख रहे हैं की 'महज़ शक़ की बिना पर हत्या कर देना बुरी बात है' (तरुण विजय, भाजपा के प्रवक्ता) मानो अगर ये शक़ बेबुनियाद ना हो तो इस बात में कुछ भी गलत नहीं है।

हम यह मांगें करते हैं कि :

1. वे सारे आदमी जो इस हत्या की साजिश में शामिल हैं उन्हें जल्द से जल्द गिरफ्तार किया जाए और उन पर क़ानूनी कार्यवाही शुरू की जाये।

2. प्रदेश के मुख्यमंत्री अखिलेश यादव अखलाक़ के परिवार और गाँव के अन्य मुसलमान परिवारों की सुरक्षा सुनिश्चित करें।

3. केंद्र सरकार केंद्रीय मंत्री महेश शर्मा और भाजपा के अन्य नेताओं, जिन्होंने इस जघन्य अपराध का औचित्य सिद्ध करने कोशिश की है और गाँव में सांप्रदायिक तत्वों को और उकसाया है, के विरुद्ध कड़ी से कड़ी कार्यवाही करे।

4. इस क्षेत्र में सक्रिय हिन्दुत्ववादी संगठनों की आपराधिक गतिविधियों की तहकीकात करने के लिए जांच बिठाई जाए।

5. और आखिर में हम मांग करते हैं की प्रधानमंत्री मोदी इस बर्बर कुकृत्य पर अपनी शर्मनाक चुप्पी जल्द से जल्द तोड़ें।

आजादी तो मिल गई है पर हमें पता नहीं कि उसका करना क्या है?

■ बलराज साहनी

अभिनेता बलराज साहनी ने ये कालजयी भाषण 1972 में जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय (जेएनयू) के दीक्षांत समारोह में दिया था। अपने प्रबुद्ध विचारों के कारण यह भाषण वर्षों तक चर्चित रहा। जेएनयू स्टूडेंट्स यूनियन इसके पर्वे प्रकाशित कर बांटती रही। इस भाषण में बड़ी साफगोई से उन्होंने हिन्दी-उर्दू की समस्या और शक्तिशाली होती अंग्रेजी पर भरपूर रोशनी डाली है। साहनी इसे औसत भारतीय व्यक्ति की दिमागी गुलामी के सबूत के रूप में देखते हैं। यह भाषण आज भी उतना ही प्रासंगिक और सामयिक है, जितना कि उस दौर में था।

लगभग बीस साल पहले की बात है। कलकत्ता के 'फिल्म जर्नालिस्ट एसोसिएशन' की ओर से 'दो बीघा जमीन' फिल्म के निर्देशक बिमल रॉय और हमें यानी उनके साथियों को सम्मान दिया जा रहा था। ये एक साधारण पर रुचिकर समारोह था। बहुत अच्छे भाषण हुए, पर श्रोता बड़ी उत्सुकता के साथ बिमल रॉय को सुनने की प्रतीक्षा कर रहे थे। हम सब वहां फर्श पर बैठे थे, मैं बिमल दा के पास ही बैठा था और देख रहा था कि जैसे-जैसे उनके बोलने का समय आ रहा था कि उनकी बेचैनी बढ़ती जा रही थी। फिर जब उनकी बारी आई, वे उठे और हाथ जोड़कर सिर्फ इतना कहा, 'जो कुछ कहना होता है मैं अपनी फिल्मों के माध्यम से कह देता हूँ, मेरे पास कहने के लिए और कुछ नहीं है।'

इस समय मैं भी सिर्फ इतना ही कहना चाहता हूँ। अगर मैं इससे ज्यादा कहने का साहस कर पा रहा हूँ, तो सिर्फ इसलिए कि जिस व्यक्ति के नाम पर आपकी यूनिवर्सिटी बनी है, उसके व्यक्तित्व से मुझे प्यार है। उतना ही प्यार और आदर, बल्कि उससे भी ज्यादा, आपकी यूनिवर्सिटी से जुड़े मेरे मन में पीसी जोशी के लिए है। मेरे जीवन के कुछ बेहद कीमती पल इनकी ही बदौलत हैं, कुछ ऐसे कर्ज भी हैं जिन्हें मैं कभी चुका नहीं सकता। इसलिए आपकी संस्था की ओर से मिले किसी भी निमंत्रण को अस्वीकार नहीं कर सकता। अगर आप मुझे फर्श साफ करने के लिए भी बुलाते तब भी मैं उतना ही खुश और सम्मानित महसूस करता, जितना इस समय यहां खड़े होकर आपको संबोधित करने में महसूस कर रहा हूँ। पर उस सेवा के लिए मैं शायद अधिक योग्य साबित होता।

कृपया मुझे गलत न समझें। मैं शिष्टता का दिखावा नहीं कर रहा हूँ। जो बात मैंने कही है, वह दिल से कही है और अब आगे भी जो कहूंगा, दिल से ही कहूंगा, फिर चाहे वह आपको अच्छा लगे या न लगे, वह ऐसे मौकों के अनुकूल हो चाहे प्रतिकूल। शायद आप सब जानते होंगे कि शैक्षणिक वातावरण से मेरा संबंध लगभग 25 बरसों से टूटा हुआ है। मैंने कभी किसी विश्वविद्यालय के दीक्षांत समारोह को भी संबोधित नहीं किया है।

वैसे यहां मैं ये भी जोड़ना चाहूंगा कि आपकी दुनिया से मेरा नाता टूटना ऐच्छिक नहीं था। इस दूरी के लिए कहीं न कहीं हमारे देश की फिल्म बनाने की दशा जिम्मेदार है। हमारी फिल्मी दुनिया में या तो अभिनेता को इतना कम काम मिलता है कि वह भूखों मरता है या फिर चाहे धन-दौलत की भूख हो या न हो, उसे इतना ज्यादा काम करना पड़ता है कि वह हर तरफ से कट जाता है। उसे न अपने पारिवारिक जीवन की सुध-बुध रहती है, न ही अपनी मानसिक और आत्मिक आवश्यकताओं की। पिछले 25 वर्षों में मैंने लगभग सवा-सौ फिल्मों में काम किया है। इतने समय में अमेरिका या यूरोप में एक अभिनेता 30-35 फिल्मों में काम करता है। इससे आप खुद अंदाजा लगा सकते हैं मेरी जिंदगी का कितना बड़ा हिस्सा सेल्यूलॉयड की रीलियों में दफन हुआ पड़ा है। इस अरसे में कितनी किताबें थीं, जो मैं नहीं पढ़ सका, कितने आयोजन थे जहां मैं जाना चाहता था पर जा नहीं सका। कभी-कभी मैं खुद को बहुत पिछड़ा हुआ महसूस करता हूँ और मेरी कुंठा तब और बढ़ जाती है जब मैं सोचता हूँ कि इन सवा सौ फिल्मों में कितनी फिल्में महत्वपूर्ण होंगी? कितनी ऐसी फिल्में होंगी, जिन्हें याद रखा जाएगा? शायद बहुत कम, मुश्किल से एक ही हाथ की उंगलियों पर गिनने लायक। और उन्हें भी लोग या तो भूल गए हैं या जल्दी ही भूल जाएंगे।

इसीलिए मैंने कहा था कि मैं शिष्टता नहीं दिखा रहा हूँ। मैं आपको सचेत करना चाहता हूँ कि अगर मेरा भाषण खास विद्वता का सबूत न दे, तो आपको निराश न होकर मुझे माफ कर देना चाहिए। बिमल दा बिलकुल सही थे। एक कलाकार का क्षेत्र उसका काम ही होता है। इसीलिए मैं यहां जो कुछ कह रहा हूँ, अपने जीवन के अपने अनुभव से ही कह रहा हूँ, जो मैंने देखा-परखा-महसूस किया। उससे बाहर की बात करना बेवकूफी होगी, किसी दिखावे सरीखा होगा।

इस समय मुझे अपने विद्यार्थी जीवन की एक घटना याद आ रही है, जिसे मैं कभी भुला नहीं सका, जिसने मेरे मन पर बहुत गहरा असर डाला। मैं अपने परिवार के साथ गर्मियों की छुट्टियां मनाने रावलपिंडी से कश्मीर जा रहा था। पिछली रात भारी बारिश होने के

कारण से रास्ते में पहाड़ का एक हिस्सा टूटकर गिर गया था जिसके कारण सड़क बंद हो गई थी। दोनों तरफ मोटरों की लंबी कतारें लग गईं। न खाने-पीने का इंतजाम था, न सोने का। पीडब्ल्यूडी के कर्मचारी सड़क की मरम्मत करने में जी-तोड़ मेहनत कर रहे थे। फिर भी ड्राइवर और यात्री हर समय उनके पीछे पड़े रहते, उन्हें सुस्त और निकम्मा कह-कहकर कोसते रहते। इसमें काफी समय लगा। यहां तक कि आसपास के गांवों के लोग शहर के तौर-तरीकों वाले यात्रियों से उकता गए थे।

आखिरकार एक दिन रास्ता खुलने का ऐलान हुआ और ड्राइवरों को हरी झंडी दिखा दी गई। पर तब एक अजीब-सी बात हुई। कोई भी ड्राइवर पहले अपनी गाड़ी बढ़ाने को तैयार ही नहीं था। न इस तरफ से और न ही उस तरफ से। सभी खड़े एक-दूसरे का मुंह देख रहे थे। इसमें शक नहीं कि रास्ता कच्चा था और खतरनाक भी। एक तरफ पहाड़ था और दूसरी तरफ खाई व हिलोरे मारता झेलम दरिया। आधा घंटा बीत गया। कोई टस से मस न हुआ। ये वही लोग थे जो कल तक पीडब्ल्यूडी के कर्मचारियों को आलस और अकर्मण्यता के लिए कोस रहे थे। इतने में पीछे से एक छोटी-सी हल्के रंग की स्पोर्ट्स कार आती दिखाई दी। एक अंग्रेज उसे चला रहा था। इतने सारे वाहनों और भीड़ को देखकर वह हैरान हुआ। मैं कोट-पतलून पहने जरा बन-ठनकर खड़ा था। उसने मुझसे पूछा, 'क्या हुआ है?' मैंने उसे सारी बात बताई, तो वह जोर से हंसा और उसी क्षण हार्न बजाता हुआ, बिना किसी डर के, कार चलाते हुए आगे बढ़ गया।

उसके बाद तो नजारा और भी देखने लायक था। कहां तो कोई माई का लाल गाड़ी स्टार्ट करने के लिए तैयार नहीं था, और अब वे हॉर्न पर हॉर्न बजाते हुए एक साथ वह हिस्सा पार करने लगे। इतनी भगदड़ मची कि रास्ता फिर काफी देर के लिए बंद हो गया। तब मैंने अपनी आंखों से प्रत्यक्ष देखा कि एक आजाद देश में पले-बढ़े आदमी और एक गुलाम देश में पले-बढ़े आदमी में क्या फर्क होता है।

आजाद आदमी के अंदर कुछ सोचने, फैसला करने और अपने फैसले पर अमल करने की दिलेरी होती है। गुलाम आदमी यह दिलेरी खो चुका होता है। वह हमेशा दूसरे के विचारों को अपनाता है, धिसे-पिटे रास्तों पर चलता है। इस सबक को मैंने अपनी जिंदगी का हिस्सा बना लिया था। अपने जीवन में जब भी मैं कोई कठिन निर्णय ले पाया, मैं बहुत खुश हुआ। मैं खुद को आजाद महसूस करता, मुझे जीवन सार्थक लगा और मैं जीवन का लुप्त शायद इसीलिए उठा पाया क्योंकि मैंने समझा की जीवन का कुछ अर्थ है।

पर फिर भी साफ-साफ कहूं तो ऐसे मौके बहुत कम आए। किसी कठिन निर्णय के समय मैं हिम्मत खो देता था और दूसरे लोगों के आसरे रहता। मैंने सुरक्षित रास्ता चुना। मैंने

वही फैसले लिए जो मेरा परिवार मुझसे चाहता था, जो वो बुर्जुआ वर्ग चाहता था, जिससे मैं आता हूं। मेरे ऊपर मूल्यों का एक बोझ-सा डाल दिया गया था। मैं सोचता कुछ और था और कुछ और ही करता था। इस कारण मुझे बाद में काफी बुरा भी लगता। मेरे कुछ निर्णयों से मुझे कभी खुशी नहीं मिली। जब कभी भी मैं हिम्मत हार जाता, मेरी जिंदगी मुझे एक निरर्थक बोझ लगने लगती।

मैंने अपने सामने एक अंग्रेज का उदाहरण रखा है। कोई ये सोच सकता है कि किसी हद तक यह भी मेरे हीनभाव का सबूत है। मैं सरदार भगत सिंह का उदाहरण दे सकता था, जो उसी जमाने में ही फांसी चढ़े थे। मैं महात्मा गांधी का उदाहरण दे सकता था, जिन्होंने पूरा जीवन अपनी ही शर्तों पर जिया। मुझे याद है कि कैसे मेरे कॉलेज के प्रोफेसर, शहर के सम्मानीय और बुद्धिमान व्यक्ति गांधी की बातों पर हंसा करते थे कि वह बिना हथियार के सिर्फ सत्य-अहिंसा से अंग्रेज सरकार को हरा देंगे और देश को आजाद करा लेंगे। मेरे शहर के शायद एक प्रतिशत से भी कम लोग ये सपने में भी नहीं सोच सकते थे कि अपने जीवनकाल में वे देश को आजाद हुआ देख सकेंगे। पर गांधीजी को खुद पर, अपने विचारों और अपने देशवासियों पर भरोसा था। शायद आप में से किसी ने नंदलाल बोस द्वारा चित्रित गांधीजी का चित्र देखा होगा। वह एक ऐसे व्यक्ति का चित्र है, जिसमें सोचने का साहस था और उस सोच पर अमल करने की हिम्मत थी। मेरे कॉलेज के समय मुझ पर भगत सिंह या गांधीजी का प्रभाव नहीं था। मैं पंजाब प्रांत के लाहौर में स्थित प्रसिद्ध गवर्नमेंट कॉलेज से अंग्रेजी साहित्य में एम.ए. कर रहा था। इस कॉलेज में सिर्फ सर्वश्रेष्ठ विद्यार्थियों का चयन होता है। आजादी के बाद मेरे साथियों ने हिन्दुस्तान और पाकिस्तान की सरकारों और समाज में काफी उंचे पद हासिल किए। पर उस समय कॉलेज में दाखिला लेते समय हमें लिखकर देना पड़ता था कि हम राजनीतिक आंदोलनों में हिस्सा नहीं लेंगे। उस समय राजनीतिक आंदोलन का मतलब देश में चल रहे आजादी के आंदोलन से था।

आज हमारे देश को आजाद हुए पच्चीस साल हो गए हैं। इस साल हम आजादी की रजत जयंती मना रहे हैं। पर क्या हम कह सकते हैं कि गुलामी और हीनता का भाव हमारे मन से बिल्कुल दूर हो चुका है? क्या हम दावा कर सकते हैं कि व्यक्तिगत, सामाजिक या राष्ट्रीय स्तर पर हमारे विचार, हमारे फैसले और हमारे काम मूलतः हमारे अपने हैं और हमने दूसरों की नकल करनी छोड़ दी है? क्या हम स्वयं अपने लिए फैसले लेकर उन पर अमल कर सकते हैं या फिर हम यूं ही इस नकली स्वतंत्रता का दिखावा करते रहेंगे?

शेष अगले अंक में

जीडीपी और आर्थिक विकास, दुनिया के सबसे झूठे शब्द हैं, इनके कारण ही दुनिया का विनाश होगा

डॉ. फेलिक्स पैडल चार्ल्स डार्विन के परपोते हैं, लेकिन यही उनकी इकलौती पहचान नहीं है। वे मूल रूप से मानवशास्त्री हैं। कई भाषाओं के जानकार, साहित्य और दर्शन के गहन अध्येता। इतना ही नहीं वे संगीत की भी गहरी जानकारी रखते हैं। पैडल की सबसे बड़ी पहचान ये है कि वह तकरीबन 35 साल पहले भारत आए थे और अब तक ओडिशा में आदिवासियों के बीच रहकर, उनके साथ संघर्ष और उनके लिए काम कर रहे हैं। नियमगिरी पहाड़ी के पास रहने वाले 'डोंगरिया कोंध' और 'पाउरी भुइया' जैसी जनजातियों पर उनका उल्लेखनीय काम है। वेदांता-पॉस्को के खिलाफ लड़ाई में उनकी भूमिका अहम रही है। वह 'आउट ऑफ दिस अर्थ : ईस्ट इंडिया आदिवासीज एंड द एल्युमिनियम कार्टेल' जैसी चर्चित किताब लिख चुके हैं। निराला की उनसे बातचीत।

तकरीबन चार दशक से आप भारत को नजदीक से देख रहे हैं। आप जब यहां आए तब और अब के भारत में आपको क्या फर्क नजर आता है?

इसका जवाब देना मुश्किल है। कितने बदलावों की बात करूं। जब भारत आया था तो यहां की नदियां, नदी की तरह ही थीं, लेकिन अब जगह-जगह नदियों के बहने में रुकावट हैं, तमाम नाले में बदल गई हैं। पहले यहां पहाड़ों और जंगलों का महत्व था। प्रकृति और सृष्टि से मानव का मार्मिक रिश्ता था। धर्म जीवन की एक प्रक्रिया थी, उसमें जीवन मूल्य समाहित थे। अब सब कुछ तेजी से बदल चुका है, अब तो निवेश यहां का मूल मंत्र है। ये विश्व बैंक और अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (आईएमएफ) के जाल में फंसा हुआ एक मुलक बन चुका है। विश्व बैंक के लिए दुनिया के तमाम देश सिर्फ तीन खांचों में फिट होते हैं, पहला- विकसित (डेवलपड), दूसरा- विकासशील (डेवलपिंग) और तीसरा- अल्प विकसित (अंडरडेवलपड)। विकसित बनने की होड़ में शामिल होकर भारत अपना सब कुछ बदल चुका है। सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) और आर्थिक विकास इसके मूलमंत्र बन चुके हैं।

जीडीपी और आर्थिक विकास मूलमंत्र बन चुके हैं, मतलब?

हां, निश्चित रूप से यही दो ऐसे शब्द हैं, जो दुनिया के सबसे शक्तिशाली झूठे शब्द हैं। ये दोनों पूरी सृष्टि को रसातल में ले जा रहे हैं। इनके लक्ष्यों को पाने के लिए सबसे पहले मानवीय और सांस्कृतिक मूल्यों को ध्वस्त करना पड़ता है, सुंदर और पहचान से जुड़ी परंपराओं का नाश करना पड़ता है। जब तरक्की की दौड़ नहीं थी, तब क्या विकास नहीं था? था, तब भी था, लेकिन उस विकास में मानव समुदाय के बीच आपसी रिश्ते की भी कद्र थी। अब तो तेजी से दूरियां बढ़ती जा रही हैं। आर्थिक विकास और जीडीपी ने

सत्ता, राजनीति, कॉर्पोरेट और माओवादियों के बीच गठजोड़ बनाया है। इन चारों का गठजोड़ क्या कर रहा है, कैसे आपसी सहमति से सामंजस्य बैठाकर भारत जैसे देश को बर्बाद किया जा रहा है, इसे लोगों को बताने की जरूरत नहीं।

जिस गठजोड़ की बात आप कर रहे हैं तो इसका मतलब क्या माओवादी सीधे-सीधे सामंजस्य बैठाकर, आपसी सहमति से काम कर रहे हैं?

हां, बिलकुल। इन सबकी फंडिंग कौन करता है, यह देखना होगा। सबको कॉर्पोरेट विशेषकर माइनिंग कंपनियां फंड करती हैं। इन माइनिंग कंपनियों को फंड कहां से मिलता है। विश्व बैंक व आईएमएफ से। इसके लिए सरकार देश के विकास का हवाला देते हुए अधिक से अधिक माइनिंग की जरूरत पर बल देती है। इसके लिए चारों आपस में गठजोड़ कर एक-दूसरे की मदद करते हैं। जहां भी माइनिंग कंपनियां आती हैं, सबसे पहले वहां की संस्कृति का बलात्कार करती हैं, फिर औरतों का, फिर धर्म का नाश करती हैं, लोगों को झांसा देती हैं। सब आपस में मिलकर काम करते हैं। मैं तो कहता हूँ कि माओवादियों को अपने नाम से 'माओ' शब्द हटा देना चाहिए।

आप ओडिशा में रहकर वर्षों से काम कर रहे हैं। नियमगिरी वाला मामला बहुत चर्चित रहा है और वेदांता का विरोध वही हुआ। आपका इस पर क्या कहना है?

नियमगिरी का मामला अलग है। जब भी वहां कोई माइनिंग कंपनी गई तो सबसे पहले उन्होंने लोगों को यह बताने की कोशिश की कि वह वहां नियमगिरी राजा का विशाल मंदिर बनवा देगी। तब

विदेशी कंपनियों की साजिश तो नहीं?

■ बाबूलाल दाहिया

मुझे कुछ दिनों पहले पंजाब में हुए ऑर्गेनिक फार्मिंग कन्वेंशन में शामिल होने का मौका मिला। पंजाब जो 70-80 के दशक तक अनाज उत्पादन में अग्रणी था। गेहूँ की आपूर्ति में तो समूचे देश में जाना जाता था। वहाँ के किसानों के लिए लोगों में मान्यता थी कि अगर उन्हें बेकार पड़ी बंजर भूमि भी मिल जाए तो वे अपने श्रम और हुनर से उसे हरे-भरे खेतों में बदल देते हैं। आज वहाँ की परिस्थिति बदली-बदली नज़र आती है। क्योंकि किसी क्षेत्र की आंतरिक परिस्थितियों के परिचायक होते हैं वहाँ के लोकगीत और यदि लोकगीतों में इस तरह का संदेश आ रहा है कि-

चल्लो मितरों पेंजाब बचाइये।

पेंजाब बिचाइये, सारो लोक बिचाइये।।

तो कहीं न कहीं अवश्य कुछ गड़बड़ झाला है। वैसे पंजाब-हरियाणा की सड़कें अन्य प्रदेशों की अपेक्षा बहुत अच्छी हैं। विस्तृत भू-भाग में हरे खेत पहले की ही तरह नज़र आ रहे हैं। सारे देश के अनुपात में वहाँ सर्वाधिक विदेशी मुद्रा भी आती है। पर कुछ मामलों में वह सचमुच बचाने के काबिल हो गया है। क्योंकि पंजाब से जोधपुर जाने वाली एक ट्रेन जो पहले पंजाब एक्सप्रेस कही जाती थी उसका नाम बदल कर लोगों ने अब कैंसर एक्सप्रेस कर दिया है। कारण यह है कि उसमें सफर करने वाले 80 प्रतिशत लोग या तो कैंसर से पीड़ित मरीज होते हैं या उनके परिजन जिनका जोधपुर कैंसर हॉस्पिटल में आना-जाना बना रहता है। पंजाब की यह स्थिति उसकी वर्तमान खेती से बनी है। क्योंकि खेती में व्यापार संस्कृति आ जाने से अधिक उत्पादन के लालच में किसानों ने रासायनिक उर्वरकों का इस कदर उपयोग किया कि ज़मीन से स्वाभाविक उत्पादन क्षमता समाप्त हो चली। नशाखोर बने अनाजों में अगर अब वह उर्वरक न डाला जाए तो एक चौथाई उत्पादन भी न मिले। पिछले 30 वर्षों से इतना कीटनाशी रसायन उड़ला गया कि मिट्टी, पानी, वातावरण सभी को दूषित बना दिया। रक्त परीक्षण में वहाँ के लोगों में इस तरह के विषैले रसायन मिले जो तमाम बुद्धिजीवियों को विचलित कर देने वाले थे।

पंजाब की एक विशेषता यह भी थी कि अन्य राज्यों के अनुपात में माउथ कैंसर वहाँ पहले बहुत कम पाया जाता था। क्योंकि वहाँ की बहुसंख्यक सिक्ख कम्युनिटी में बीड़ी, सिगरेट, तंबाकू सेवन का निषेध है। पर इन कीटनाशी और ताबड़तोड़ रासायनिक उर्वरकों के अनुसांगिक प्रभाव से अब मुख कैंसर का

अनुपात भी बढ़ गया है। इसलिए फसल बचाने और उत्पादन बढ़ाने के नाम पर आये दिन इस ज़हर के खिलाफ तीखी अभिव्यक्ति स्वाभाविक है। जब मैंने अपने भाषण में एक पेस्टी साइड को कीटनाशी औषधि कहा तो वहाँ के किसान बोल पड़े कि इसे औषधि न कहिये बल्कि ज़हर कहिये। औषधि का उपयोग रोगों को दूर करने में किया जाता है। यह तो कीट मारने का ज़हर है। इस तरह की तीखी अभिव्यक्ति चंडीगढ़ में आयोजित 28 फरवरी से 2 मार्च तक के ऑल इंडिया ऑर्गेनिक फार्मिंग कन्वेंशन की हर कार्यशाला में देखने को मिली। इतना ही नहीं इस आसन्न संकट से निपटने के लिए वहाँ के जागरूक किसान कृषि वैज्ञानिक और बुद्धिजीवियों ने एक संगठन बनाया है जिसे खेत पाठशाला की संज्ञा दी गयी है। इस संगठन के सदस्य खेतों में घूम-घूम कर अनाजों और सब्जियों के पौधों में लगने वाले कीटों की पहचान करते हैं और फसल के नुकसान का तुलनात्मक अध्ययन भी। अध्ययन कर उन्होंने ऐसे 27 कीटों की पहचान की है जिनमें फसल को खाने वाले मात्र 10 कीट ही हैं, शेष 17 से कोई नुकसान नहीं होता। उनकी परिभाषा में कीट वह हैं जिनका शरीर तीन भागों में बंटा रहता है और छः टांगे होती हैं। इन 27 कीटों को उन्होंने दो भागों में बांट रखा है। पहला शाकाहारी और दूसरा मांसाहारी। वैसे मांसाहारी कीटों को कृषि वैज्ञानिक मनुष्य का मित्र कीट और शाकाहारी को शत्रु कीट मानते हैं पर खेत पाठशाला के शोधकर्ताओं का कथन है कि कोई भी कीट मनुष्य का शत्रु नहीं है। क्योंकि वे प्रकृति के नियमों में बंधा फसल का उतना ही भाग ग्रहण करता है जितना आवश्यक है एवं प्रकृति ने उन्हें यह अधिकार दे रखा है। क्योंकि सीमा रेखा पार करते ही मांसाहारी कीट उसके ऊपर टूट पड़ते हैं और उन्हें नियंत्रित कर देते हैं। मनुष्य सहित अन्य सभी जंतु तो अपने शरीर के वजन के अनुपात में 1-2 प्रतिशत वजन का भोजन ही लेते हैं पर इन पेटू मांसाहारी कीटों को प्रतिदिन अपने वजन के बराबर मांस चाहिए। इसलिए सहज ही अंदाज़ा लगाया जा सकता है कि इनके खाने के लिए कितने शाकाहारी कीटों की आवश्यकता पड़ती होगी। कुछ मांसाहारी कीट तो शाकाहारियों के अंदर अपने अंडों का प्रवेश करा देते हैं जो बच्चे बनने पर शाकाहारियों का काम तमाम करके ही बाहर निकलते हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है जब किसान ने काफी मात्रा में शाकाहारी कीटों को देखा और कीटनाशी डालने की तैयारी करने लगा। जब तक

कीटनाशक डाला तब तक शाकाहारी के लारवा कीट बनकर उड़ गये और ज़हर से मारे गये बेचारे मांसाहारी कीट जो नियंत्रण हेतु सक्रिय होकर अपनी संख्या बढ़ा रहे थे। खेत पाठशाला के शोधार्थियों का कथन था कि कभी-कभी पेड़ अनुकूल परिस्थिति में आए अधिक फल-फूलों को कम करने के लिए खुद ही कीटों को अपने रंग-बिरंगे फूलों से आकर्षित करके मौन नियंत्रण देते हैं। क्योंकि अधिक फल आ जाने के कारण उनका तना और शाखाएं टूट सकती हैं। इसलिए प्रकृति के हर कार्य में मनुष्य को टांग नहीं अड़ाना चाहिए। एक शोध में उन्होंने यह भी ज्ञात किया कि कभी-कभी पेड़ के ऊपरी भाग में काफी घनी नई पत्तियां आती हैं जिससे सूर्य की रोशनी नीचे की भोजन तैयार करने वाली परिपुष्ट पत्तियों तक नहीं पहुंचती, पर यदि पत्ती खाने वाले कीट उन ऊपरी कोमल पत्तियों का कुछ भाग खा लेते हैं तो सूर्य की रोशनी नीचे तक पहुंचती रहती है।

धान की फसल में सफेद मक्खी के लग जाने से धान की हज़ार बालियां सफेद हो जाती है। किसान ये सफेद बालियां देखकर भयभीत हो जाता है और प्रति एकड़ में हज़ारों रुपये का कीटनाशी उड़ेल देता है। यदि हिसाब लगाया जाए तो हज़ार बालियों की धान की उपज अधिकतम 6-7 किलो होती है जिसकी कीमत मात्र 150 रुपये होगी पर किसान व्यर्थ ही हज़ारों रुपये की कीटनाशी डाल देता है। अनुसंधान से पता चलता है कि किसी भी पौधे को एक तिहाई पत्तियों से अधिक कोई कीट नहीं खाता पर जब अनुसंधान कर्ताओं ने कुछ क्षेत्र के पौधों की एक तिहाई पत्तियों को तोड़कर उत्पादन और गैर तोड़े हुए क्षेत्र के उत्पादन का तुलनात्मक आंकड़ा देखा तो दोनों

की उपज लगभग बराबर ही हुई। कपास उत्पादन कृषकों के बीच एक कीट बहुत बदनाम है। वह लगभग 1 इंच लंबे पंख में लाल धब्बों वाला तेलिया कीट है जो कपास के लगभग 5-6 फूलों की पंखुड़ियां प्रतिदिन खाता है। पर अनुसंधान से पता चला है कि इसके द्वारा खाये गये सभी फूलों में फल आये क्योंकि वह फूल का सिर्फ कोमल भाग ही खाता है पर दूसरी ओर इसके द्वारा प्रजनित लारवा अन्य शाकाहारी कीटों का सफाया करते हैं जिसकी लोगों को जानकारी ही नहीं है। खेत पाठशाला के विशेषज्ञों का कथन था कि हमें प्रकृति के इन उपहार स्वरूप मिले अनमोल कीटों से डरने की कतई ज़रूरत नहीं है। बल्कि वनस्पतिक शरीर शास्त्र और कीटों की प्रकृति को समझने की ज़रूरत है। हमें खतरा इन कीटों से नहीं खतरा दो तरह के अन्य कीटों से है जिनमें एक लाल वाणियां और दूसरा काला वाणियां है। जो बे-वजह कीटों का हौवा खड़ा कर मनुष्य को अनेक जानलेवा बीमारियों की ओर ढकेल रहे हैं। लाल वाणियां से शायद उनका आशय अमेरिकी पेस्टी साइड प्रोड्यूसरों से था और काला वाणियां भारतीय डिस्ट्रीब्यूटरों से। उन्होंने एक और मज़ेदार बात का भी जिक्र किया कि पेस्टी साइड में अगर ज़हर 17 प्रतिशत है, तो शेष में पौधे में चमक लाने वाला तत्व। जिससे किसान यह समझे कि इस औषधि से हमारी फसल बेहतर हुई है। यह देखकर ऐसा लगा कि कभी पंजाब आधुनिक खेती में अग्रसर था अब वह ऑर्गेनिक फार्मिंग में अग्रसर बनेगा।

(लेखक जैव-विविधता के जानकार हैं।)

जीडीपी और आर्थिक विकास...

पृष्ठ 17 का शेष

वहां के आदिवासियों ने जवाब दिया कि हमारा भगवान, नियमगिरी राजा मंदिरों में नहीं रहता, वो रह ही नहीं सकता। वह कंक्रीट के जंगल में नहीं, असली जंगल में रहता है, पहाड़ पर खुले आसमान के नीचे। लोग जब कंपनी के झांसे में नहीं फंसे। तब दूसरे रास्ते अपनाए गए। वहां के लोग साफ कहते हैं कि पहाड़ को हमारी ज़रूरत है और हमें पहाड़ की। ऐसा नहीं है कि आदिवासी नहीं जानते कि इस पहाड़ में सैकड़ों तरह के अयस्क हैं, लेकिन उनके लिए धरती, जंगल, पहाड़ कभी लालच पूरा करने के स्रोत की तरह नहीं रहे। आदिवासी जैव पारिस्थितिकी आधारित अर्थव्यवस्था पर चलते हैं, इसलिए कंपनियों उन्हें आसानी से दूसरे समुदाय की तरह झांसा नहीं दे पाती।

दूसरे समुदाय, मसलन?

दूसरे समुदाय को एक उदाहरण से समझिए। मैं जब भारत

आया था तो हिंदू धर्म मुझे आकर्षित करता था, अब भी करता है। मैंने हिंदू धर्म का नदियों से, उसके पानी से, सृष्टि से, पहाड़ से लगाव देखा था। अब भी मैं हिंदू धर्म के अनुसार पूजा करता हूं, मंदिर जाता हूं लेकिन जब भी किसी बड़े मंदिर जाता हूं, जहां सिर्फ संगमरमर ही संगमरमर लगे होते हैं, तो सोचता हूं कि इस विशाल मंदिर में क्या भगवान रहता होगा? और रहता होगा तो कैसे? क्या भगवान को नहीं मालूम कि उसका वास बनाने में इस्तेमाल संगमरमर निकालने में बड़े लोगों ने मजदूरों पर कितने तरह के जुल्म किए थे? निश्चित रूप से भगवान यह जानता होगा। जिस तरह का झांसा देकर बड़े लोगों ने मंदिर बनवाए ठीक वैसे ही माइनिंग कंपनियों ने अपने बचाव के लिए बड़े-बड़े मंदिरों का निर्माण शुरू करवा दिया है ताकि लोग उसमें उलझे रहें और उनका कोई विरोध न हो।

साभार तहलका

अहमद बरख्श थानेसरी की रामायण*

अहमद बरख्श थानेसरी मुसलमान थे, जिन्होंने रामायण की रचना की। इस रामायण को बालकृष्ण मुजतर ने संपादित किया है। अहमद बरख्श थानेसरी के जन्म के बारे में कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है, लेकिन सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि यह 19वीं शताब्दी की रचना है। यह सांग



शैली, हरियाणा का लोक नाट्य, की रचना है। इसका लेखक हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाओं को अच्छी तरह जानता है, वह हिन्दू रीति-रिवाजों से अच्छी तरह परिचित है। अहमद बरख्श की रामायण हरियाणवी भाषा से प्रभावित है। अहमद बरख्श ने अपनी रामायण में राम के चरित्र को अनुकरणीय बताया है। इस रामायण में छः काण्ड हैं। राम को राज्य मिलने पर यह कथा समाप्त हो जाती है। वे राम के राज्य में शंबूक वध और सीता के वन निर्वासन के कथा प्रसंगों का जिक्र नहीं करते। उन्होंने राम के जीवन से संबंधित घटनाओं को नाट्य रूप में प्रस्तुत किया। हरियाणा में रामलीला खेला जाती है, उसका आधार अहमद बरख्श की रामायण है। राम के चरित्र को हरियाणा के घर-घर तक पहुंचाने का काम अहमद बरख्श की रामायण ने किया। वाल्मीकि रामायण और तुलसीदास की रामचरित मानस दोनों हरियाणा के जन साधारण की समझ से परे थे, लेकिन सांग के रूप में लिखकर और हरियाणवी का पुट देकर इसे बोधगम्य बना दिया। अहमद बरख्श ने अपनी रचनाओं में हिन्दू संस्कारों को, विश्वासों को आदर दिया। अपनी रामायण के काण्डों के आरम्भ में वे भक्तिपूर्वक गणेश, शारदा, राम, सीता, हनुमान, महादेव आदि की वन्दना करते हैं। अहमद बरख्श का आध्यात्मिक चिंतन हठयोग से प्रभावित है। भारत की भावात्मक एकता में अहमद बरख्श का महत्वपूर्ण योगदान है। इससे साफ नजर आता है कि हिन्दू और मुसलमान आपस में लड़ते नहीं थे, बल्कि एक दूसरे को समझने की कोशिश करते थे और एक दूसरे की भावनाओं का आदर करते थे। अहमद बरख्श की यह रचना हिन्दू मुस्लिम एकता का जीवन्त प्रतीक है जो लोग राम के नाम पर या अन्य किसी धार्मिक चिन्ह पर हिन्दू और मुसलमानों में फूट डालते हैं, और मानते हैं कि इतिहास में मुसलमानों ने हिन्दुओं के धार्मिक प्रतीकों का अपमान किया है, उनको इस रचना से कुछ सबक लेने की जरूरत है।

अहमद बरख्श थानेसरी का हिन्दुओं मान्यताओं और रीति-रिवाजों का इतना गहरा ज्ञान है कि इस रचना को देखकर कोई यह नहीं

कह सकता कि यह किसी ऐसे व्यक्ति की लिखी हुई है जिसकी राम में श्रद्धा नहीं है। अहमद बरख्श थानेसरी के लिए राम का चरित्र उसी प्रकार आदरणीय है जिस प्रकार तुलसीदास के लिए। तुलसीदास ने भी रामचरित मानस को अवधी में इसलिए लिखा था ताकि आम जनता उसे आसानी

से समझ सके। तुलसीदास को इस बात की कीमत भी चुकानी पड़ी थी। तत्कालीन पण्डों ने तुलसीदास को ब्राह्मण जाति से इसलिए निकाल दिया था कि उसने राम के चरित्र को गंवारों की भाषा में लिखा, वह तो सिर्फ देववाणी संस्कृत में लिखी जा सकती है। इसी तरह हरियाणा के लोगों के लिए भी अवधी भाषा इतनी बोधगम्य नहीं थी, अहमद बरख्श ने राम के चरित्र को हरियाणवी भाषा में लिखा। अहमद बरख्श ने रामायण को इस तरह से लिखा कि उसे स्टेज पर खेला जा सके। सांग शैली में इसे लिखा। इसमें लिखने के पीछे भी यही सोच काम कर रही है कि यहां की अधिकतर जनता अनपढ़ थी अतः उसे राम के चरित्र से जोड़ने के लिए रंगमंच ही उपयुक्त माध्यम हो सकता था।

इस तरह कहा जा सकता है कि मध्यकालीन इतिहास में हिन्दू और मुसलमान आपस में लड़ते नहीं थे, बल्कि एक दूसरे को जानने समझने के प्रयास करते थे और एक दूसरे की परम्पराओं और रिवाजों का आदर करते थे। दुर्भाग्यपूर्ण वाली साम्प्रदायिक शक्तियों ने इस परम्परा को धूमिल करने की कोशिश की है। वे इस तथ्य को नकारते हैं कि हिन्दू और मुस्लिम कभी मिलकर रहे हैं, इसे नकारने शक्तियां कभी किसी देवता के नाम पर तो कभी किसी और चीज के नाम पर दोनों सम्प्रदायों में फूट डालने की कोशिश करते हैं। राम के नाम पर साम्प्रदायिक शक्तियों ने फूट के बीज बोये हैं, उनको इस बात की तरफ देखने की जरूरत है कि राम का चरित्र केवल हिन्दुओं में लोकप्रिय नहीं है, बल्कि मुसलमानों में भी उतना ही। अहमद बरख्श ने भारत की संस्कृति को सही समझा है, राम के चरित्र को आदर्श के रूप में प्रस्तुत किया है। अहमद बरख्श की रामायण साझी संस्कृति का जीवन्त उदाहरण है।

* यह पुस्तक हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़ ने प्रकाशित की है

मैं और मेरे गाँव की रामलीला

■ राघवेंद्र

मेरे गाँव की रामलीला से मेरा नाता बेहद अनूठा रहा है। जब मैं क्लास 9वीं में था तो पड़ोस के गाँव की रामलीला को न्यूता देकर बुलाया गया था। उस रामलीला कमेटी के मुख्य कलाकार डॉक्टर रामसिंह बहुत फेमस कलाकार थे। मगर वह हमेशा रामलीला में अश्लील मज़ाक करते जो मेरे गाँव के लोगों को अच्छे नहीं लगते थे। दूसरी तरफ रामलीला और नवरात्रि एक साथ आयोजित होती थी। इस धार्मिक माहौल में कोई भी उनके मज़ाक को बर्दाश्त नहीं करता था। उसके अगले साल गाँव के कुछ युवकों ने मिलकर गिरधर शाह बाबा रामलीला समिति भदोही का गठन किया और रामलीला शुरू कर दी मगर उसका मंचन बहुत खराब हो रहा था। कई सारे लोग डायलॉग भूल जाते थे मगर अच्छी बात यह हुई कि हमारे गाँव के लोगों ने रामलीला शुरू कर दी। पड़ोसी गाँव के लोगों ने बहुत मज़ाक उड़ाया और कहा कि ढंग से मंच पर खड़ा नहीं हुआ जाता और आये हैं रामलीला करने और इसी बात को मेरे गाँव के बुजुर्गों ने भी हम लोगों को बतलाया। मैंने अपने पापा से कहा कि मैं भी इसमें भाग ले लूँ तो कुछ अच्छा हो जाएगा। मगर पापा को मुझ पर बिल्कुल भरोसा नहीं हुआ। इसके पीछे कारण था कि मेरी छवि गाँव में बेहद शर्मिले और दबू किस्म के लड़के की थी। उसके बाद सन् 2001 में जब 11वीं कक्षा में था रामलीला की तैयारी हो रही थी। मेरे गाँव के मिंटू सिंह नाम भैया ने ज़िम्मेदारी ली और रिहर्सल शुरू की और मैंने पापा को बिना बताये मिंटू भैया से बात की-मुझे भी रामलीला करनी है। हालाँकि उन्हें भी मुझ पर भरोसा नहीं था मगर उन्होंने कहा मैंने सारे पात्र बांट दिये यह लो नारद का चरित्र जो पहले दिन ही करना है।

दरअसल नारद का पात्र करने के लिए कोई तैयार नहीं था क्योंकि गाँव में मान्यता थी कि जो नारद बनता है वह घर-घर झगड़ा कराता है। मैंने इस चरित्र के लिए हाँ कर दी और अकेले रिहर्सल करना शुरू किया। नवरात्रि के पहले दिन ही नारद मोह का चरित्र करना था रामलीला कमेटी के लोग शक से देख रहे थे यह सही करेगा या नहीं मगर नारायण-नारायण की धुन शुरू होते ही तालियाँ बजी। बस फिर क्या था नारद मोह खत्म होते ही गाँव में मेरे चर्चे हो गये।

हमारे पिताजी को सबने बधाई दी और उनसे कहा गया कि इसे रोज़ रामलीला में जाने दें। अब उसी साल शूर्पणखा, भरत, लक्ष्मण, कैकेयी, विश्वामित्र, जनक का रोल किया। इस तरह रामलीला में लोग इंतज़ार करते थे कि मैं कब मंच पर आऊँ। गाँव के लोगों का समर्थन मिला लगभग डेढ़ हज़ार लोग रामलीला देखने आते। यहाँ तक कि दुर्गापूजा की आरती उन्हें रामलीला में बाधा लगती थी। मेरा रिश्ता रामलीला से यूँ बना कि गाँव ही नहीं आस-पास के गाँव के लोग मुझे पहचानने लगे। इससे पहले जो मुझे जानते नहीं थे वह भी जानने लगे। एक बार सन् 2003 में रामलीला और दुर्गापूजा दोनों का स्थान बदल गया और गाँव के जिन लोगों ने ज़िम्मेदारी ली थी उन्होंने अपना हाथ खींच लिया। सभी इस पशोपेश में पड़ गए कि रामलीला और

दुर्गापूजा आगे कैसे बढ़ायी जाए। उसी समय मैं इलाहाबाद विश्वविद्यालय की छुट्टियों से घर पर आया था। उस रात बातचीत में शामिल हुआ और रामलीला को आगे बढ़ाने का फैसला किया। उसी साल हम लोगों ने रामलीला की रिहर्सल का काम शुरू किया। इस तरह से गाँव के ढेर सारे युवक उसमें शामिल हुए और मेरे हाथ में लोगों की कास्टिंग, संवाद अदायगी, मंच पर अदायगी का दारोमदार आ गया। उन्होंने लगभग मुझे निर्देशक बना दिया। बस फिर क्या था राधेश्याम, रामायण को लेकर हम लोगों ने उन अंशों को शामिल किया जो सतत खेले जा सकें। पहले दिन नारद मोह; दूसरे दिन सीधे ताड़का वध, विश्वामित्र द्वारा जनकपुरी में जाना, सीता राम मिलन; तीसरे दिन सीता स्वयंवर, परशुराम क्रोध; चौथे दिन राम-लक्ष्मण-भरत-शत्रुघ्न का सीता व उनकी बहन के साथ विवाह; पांचवे दिन-राम राजतिलक की घोषण, कैकेयी-मंधरा की मंत्रणा, कैकेयी द्वारा वरदान मांगना और राम का वनवास; छठवे दिन दशरथ की मृत्यु, कैकेयी-भरत संवाद, भरत द्वारा राम को मनाने जाना और खड़ाऊ लेकर आना, शूर्पणखा का राम को रिझाना व लक्ष्मण द्वारा उसके नाक-कान काट लेना; सातवें दिन खर-दूषण का राम द्वारा वध, शूर्पणखा द्वारा रावण को उकसाना, रावण-मारीच का संवाद, रावण द्वारा सीता का हरण, रावण-जटायु का युद्ध, राम का शबरी से मिलन; आठवें दिन-राम और सुग्रीव हनुमान का मिलन होना, बालि वध, सुग्रीव का राज्याभिषेक, सुग्रीव द्वारा सीता का पता लगाने का आदेश देना, हनुमान द्वारा लंका पहुंचना, सीता से मिलना, हनुमान रावण संवाद, लंका दहन, राम द्वारा पुल निर्माण; नवें दिन-अंगद रावण संवाद, लक्ष्मण मेघनाद युद्ध, लक्ष्मण का मूर्च्छित होना; हनुमान द्वारा जड़ी-बूटी लाना, कुंभकर्ण राम युद्ध, कुंभकर्ण वण, राम लक्ष्मण मेघनाद युद्ध मेघनाद वध; दसवें दिन-सुलोचना विलाप, अहिरावण-महिरावण द्वारा राम को बंदी बनाना, हनुमान द्वारा उन्हें छुड़ाना, राम-रावण युद्ध, रावण वध, राम-भरत पिलाप, राम राज्याभिषेक।

रामलीला का मूल पाठ तैयार होने के बाद समस्या आई कि रावण के पात्र के लिए कोई शख्स तैयार नहीं था। मैंने किसी तरह रावण के लिए अपने गाँव के मनोज सिंह को तैयार किया परंतु वह छरहरे बदन के और सांवलें थे। सबने कहा राम और रावण दोनों सांवलें और पतले-पतले होंगे अच्छा नहीं लगेगा। इस शंका का समाधान मेरी माँ ने किया। उन्होंने बताया राम और रावण एक दूसरे से बढ़कर सुंदर और सांवलें थे। रावण तो दक्षिण दिशा में श्री लंका का राजा था उधर तो सांवलें ही लोग होते हैं। मैंने विश्वास कर रावण मनोज सिंह को ही बनाया। इसके बाद रामलीला में स्त्री पात्र को लेकर मसला आन पड़ा। अधिकतर लोग स्त्री पात्र नहीं निभाना चाहते थे। हमारे गाँव की रामलीला में लड़कियों को मंच पर लाना भी मुश्किल ही नहीं बेहद खतरनाक काम था। फिलहाल मैं और गाँव के ही वीरेंद्र चौहान महिला पात्रों को निभाना शुरू किये। एक दिन एक संकट और आया कि कुछ लोग जो ठाकुर जाति के नहीं थे उनमें से कुछ लोग ऋषि-मुनि

का चरित्र कर रहे थे। रिहर्सल के समय ठाकुरों के लड़के उनके आगे सिर नहीं झुका रहे थे। तब गांव के कुछ बुजुर्गों को बुलाकर उनसे बातचीत कर उन लड़कों को समझाया गया। इसके बाद रामलीला की रिहर्सल नियमित रूप से होने लगी। हम लोग गांव में नवदुर्गा पूजा समिति प्रतापगढ़ के माध्यम से दुर्गा पूजा और रामलीला का चंदा इकट्ठा करने लगे। रामलीला के लिए कुछ ड्रेस बगल के गांव की रामलीला से उधार मांग कर आयी। कुछ सामान दुर्गापूजा के चंदे से खरीदा गया। उसके बाद कुछ लोगों के घर से पुरानी साड़ियां आयीं। गांव के माली, दलित, कुर्मी, मुस्लिम सभी लोगों ने इस आयोजन में चंदा दिया। गांव में इस तरह का वातावरण बन गया कि चारों तरफ उत्सुकता थी कि रामलीला कब शुरू होगी? रामलीला को 15 दिन रह गये थे कि तभी रामलीला के राम ने जो रिहर्सल में आते थे वह गायब हो गये। जब उनका पता लगा तो यह ज्ञात हुआ कि वह अब रोल नहीं करेंगे। उसका कारण यह था कि गांव के लोगों द्वारा उनके मनमुताबिक सपोर्ट नहीं मिल रहा है। मैंने समझाने की कोशिश की कि ऐसा ही होता है। उसमें मुद्दा यह भी था कि वह उस ग्रुप में था जहां पहले रामलीला होती थी। वह पहले की ही तरह काम कर रहा था मगर इस नए ग्रुप में उस पर ताने कसे गये थे। फिलहाल जल्दी-जल्दी में रामलीला का नया राम तैयार हुआ। रिहर्सल के समय कुछ लोग पीकर आते थे। रामलीला के बहुत सारे कलाकारों ने इस पर एतराज जताया। उन लोगों से कह दिया गया जब पिये हों तो रिहर्सल में न आए। रामलीला कमेटी के पास धीरे-धीरे करके सारा सामान जुड़ गया। मगर नवदुर्गा पूजा समिति के लोगों द्वारा एतराज जताया गया कि रामलीला समिति के ऊपर ज्यादा खर्च हो रहा है। इस बार हमारे संयोजक अनिल कुमार सिंह ने कहा कि जो भी रामलीला का ईनाम आएगा वह दुर्गा पूजा कमेटी को दे दिया जाएगा। हमारे किशन मास्टर मैनेजमेंट करने में माहिर थे। वह बोले कमेटी के बीच पुल है अब तो पता ही नहीं चलता कि कौन दुर्गा पूजा समिति है और कौन रामलीला कमेटी। अक्टूबर महीने में रामलीला शुरू हुई। इसी साल जब रामलीला के हुए आठ दिन हो गये थे तो जहां पर रामलीला होती थी वहीं के बगल में एक महिला की मृत्यु हो गयी। अब गांव के सारे लोगों ने यह फैसला किया कि रामलीला नहीं होगी। जबकि एक ही दिन बचा था। हम लोग उनकी मौत पर कम और रामलीला न होने पर अधिक दुःखी थे। पर वह काम हो गया जो होना था। रामलीला साल दर साल गांव के लोगों के आकर्षण का केंद्र बन गयी। रामलीला में गाने वाले कम थे तो गणेश ढोलक मास्टर और इंद्र बहादुर सिंह हम लोगों को गाना सिखाने आए। यह लोगों ने सिर्फ सुना था तो स्वयं से अखाड़े में चले आए। मुझे एक प्रसंग कभी नहीं भूलता जब मैंने भाभी को बिना बताए उनकी शादी की साड़ी और चुनरी चुराकर शूर्पणखा का रोल किया था, भाभी को यह बात पांच दिन बाद पता चली मगर वह बिल्कुल नाराज नहीं हुई। उन्हें मेरा रोल बहुत अच्छा लगा था। हर घर पर 8:00 बजते ही खाना बनाकर लोग खा लेते थे और 9 बजे तक दुर्गापूजा पंडाल में आ कर दुर्गा जी की आरती करते थे। दुर्गा आरती के बाद रामलीला शुरू हो जाती है। गांव के हर घर पर कोई एक आदमी घर की सुरक्षा में रहता है। मगर कुछ चीजें आज भी मुझे सालती हैं। गांव के पुरुष कुर्सी या

खटिया पर बैठते हैं और औरतें बच्चे जमीन पर बैठकर नाटक देखते हैं। दुर्गा पूजा पंडाल के भीतर कोई शूद्र चढ़ावा चढ़ाने नहीं जाता है। जबकि वह बराबर चंदा देता है। मगर इन सबके बावजूद रामलीला और दुर्गा पूजा चल रही है।

उसके बाद 2004 से 2014 तक लगातार अनवरत रामलीला आयोजित हो रही है। जब हम लोग रामलीला रात में कर देते थे तो सुबह-सुबह गांव के बच्चे खेत में, मैदान में, आम के पेड़ के नीचे रामलीला के संवादों को सुनाते थे। हमारे रामलीला करने वाले बच्चों को गांव में थोड़ा अतिरिक्त स्नेह मिलता था। मुझसे तो हर साल रामलीला में एक ही सवाल पूछा जाता है कि अगले साल आएंगे कि नहीं। मैंने उसके बाद औपचारिक रूप से लखनऊ में भारतेंदु नाट्य अकादमी में नाटक का प्रशिक्षण लिया और वर्तमान समय में राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय रंगमंडल में काम कर रहा हूं। मगर अभिनय और कला की ऊंचाइयाँ जो अपने गांव की रामलीला में प्राप्त की उसकी तलाश अभी तक जारी है। मेरे एक मित्र का कहना है कि वह ऊंचाई हासिल करना मुश्किल है क्योंकि रामलीला मेरे लिए पूजा है। जीवन-मरण का प्रश्न है, गांव की इज्जत भी है। हमारा बाकी नाट्यकर्म किसी के निर्देश पर संचालित कर्म है। रामलीला में हम सब स्व-निर्देशित हैं, अनुशासित हो, आपस में लड़-झगड़ कर काम करते हैं। शायद यही कारण है कि लोककलाएं ज़्यादा जीवंत होती हैं। हमारे गांव की रामलीला शायद सुर-साज और अभिनय में कमज़ोर हो मगर वह है बहुत असरदार। आसपास के दो-तीन हजार लोगों का प्यार है। दस दिन तक गांव के लोग रामलीला को अपने सारे काम खत्म कर देखते हैं। इस रामलीला में केवल रामलीला ही नहीं होती बल्कि बीच-बीच में छोटे-छोटे नाटक भी होते हैं। इस नाटक का नेतृत्व हमारे गांव के लोकप्रिय अभिनेता मिथुन करते हैं। वह बिल्कुल पढ़े-लिखे नहीं हैं मगर इम्प्रोवाइज़ेशन से बच्चों के पढ़ने पर, बेरोज़गारी पर, दहेज हत्या पर, बनियों की जालसाज़ी पर व्यंग्य कसते हैं। आज सबसे ज़्यादा गर्व तब होता है जब वे बच्चे जो बचपन में नाटक देखते थे आज बड़े होकर रामलीला में भाग ले रहे हैं। सन् 2010 से रामलीला के मंच पर जाना नहीं हो रहा है। मैं कहीं भी रहता हूं मुझे लगातार वहीं की याद आती रहती है। हालांकि जिस टीम के साथ शुरुआत हुई थी उसके बहुत सारे लोग अब बाहर परदेस चले गए हैं मगर जब भी रामलीला होती है उनकी कोशिश होती है कि वह किसी बहाने गांव में ज़रूर पहुंचे। वह किसी न किसी रूप में उस पूरे आयोजन के सहभागी बनें। कुछ ना भी बनें हों तो वह अपना रोल ही नए अभिनेताओं को याद कराते हैं। मैं अपने अनुभव रामलीला पर शेयर करने लगूं तो शायद पूरा एक उपन्यास लिखना पड़े। राधेश्याम रामायण की एक चौपाई है : यह गर्व भरा मस्तक मेरा/प्रभु चरण धूलि तक झुकने दो अहंकार विकार भरे निज राम की माला जपने दो। यहां पर राम से मतलब मेरे लिए रामलीला है। वह दस दिन विकार रहित होते हैं। इन सबका होना इसलिए भी ज़रूरी है कि हमारे गांव के लोगों को एक मंच मिलता है जहां पर हम विशेष होते हैं यहीं हमारा कलाकार मन उससे जोड़े रहता है।

अंग्रेजी भाषा को भारत ने कैसे बदला

■ राहुल वर्मा

वे एक नयी ज़बान में रच बस गए हैं। वे शब्द जो प्रतिदिन की अंग्रेजी का अभिन्न हिस्सा बन चुके हैं। लूट, निर्वाण, पायजामा, शैम्पू, शॉल, बंगला, जंगल, पंडित, और ठग।

इन भारतीय शब्दों की जड़ें और अंग्रेजी में पहुँचने के इनके रास्ते क्या हैं? उन्होंने ये यात्रा कैसे और कब तय की। कैसे वे लोक में बसी अंग्रेजी से ऑक्सफोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी तक पहुंचे। और यह सब हमें भारत और ब्रिटेन के रिश्ते के बारे में क्या बताता है।

ब्रिटिश राज के बहुत पहले - उससे भी पहले जब ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारतीय उपमहाद्वीप में पहला क्षेत्र अपने अधीन किया था - दक्षिण एशियाई भाषाओं के कुछ शब्द, जैसे उर्दू, हिंदी, मलयालम, और तमिल के कुछ शब्द, विदेशी ज़बानों का हिस्सा बन गए थे। एक कमाल की किताब में बोलचाल की भाषा के एंग्लो-इंडियन शब्दों, मुहावरों और वाक्यांशों की उत्पत्ति के रोचक ब्यौरे मिलते हैं। यह दो भारत प्रेमियों हेनरी यूल और आर्थर सी बर्नेल द्वारा तैयार की गई थी और 'हॉब्सन-जॉब्सन' द डेफिनिटिव ग्लॉसरी ऑफ इंडिया नामक यह किताब सन 1886 में आई थी। कवि दलजीत नागरा के अनुसार "यह एक शब्दकोष होने के बजाय औपनिवेशिक भारत का ज़बरदस्त संस्मरणात्मक आख्यान है। बल्कि हम इसे एक ख़्बती अंग्रेज़ के शब्द संसार के रूप में देख सकते हैं।"

इस किताब के हाल में ही छपे पेपरबैक संस्करण के संपादक यह बताते हैं कि कैसे इसके कई सारे शब्द ब्रिटिश शासन से भी पहले के हैं। केट तेल्ट्सशर कहती हैं कि, "जिंजर, पेपर, और इंडिगो इंग्लिश में एक बहुत प्राचीन रास्ते से दाखिल हुए। वे यूनान और रोम से भारत के व्यापारिक संबंधों के गवाह हैं और इंग्लिश में ग्रीक और लैटिन भाषा के मार्फत शामिल हुए।"

"जिंजर शब्द मलयालम भाषा से आता है और ग्रीक और लैटिन के रास्ते होते हुए पुरानी फ्रेंच और पुरानी अंग्रेजी में जगह बनाता है और अब यह पौधा और शब्द दोनों वैश्विक कमोडिटी बन चुके हैं। पंद्रहवीं सदी में ये कैरेबियन द्वीप समूहों में और अफ्रीका में पहुंचा और अब

यह शब्द, यह पौधा, सारी दुनिया में पाया जाता है।"

जैसे-जैसे यूरोपीय शक्तियों ने पूर्वोत्तर हिस्सों में अपना साम्राज्य बढ़ाया वैश्विक व्यापार बढ़ता गया और भारतीय शब्दों की अंग्रेजी में उपस्थिति भी जोर पकड़ती गयी। कई सारे शब्द पुर्तगाली भाषा के रास्ते आये। केट तेल्ट्सशर बताती हैं, "पुर्तगालियों ने 16वीं सदी में गोवा पर शासन कायम किया और मैंगो एवं करी जैसे शब्द अंग्रेजी में पुर्तगाली भाषा के ज़रिये दाखिल हुए - मैंगो शब्द की शुरुआत तमिल और मलयालम के 'मंगाई' से हुई, फिर पुर्तगाली में इसका रूप बना 'मंगा' और फिर अंग्रेजी में इसके अन्त में 'ओ' की ध्वनि जुड़ गयी और यह हो गया मैंगो।"

पर दक्षिण एशियाई शब्दों का अंग्रेजी में प्रवेश केवल पूरब से पश्चिम की सरल स्कीम के तहत ही नहीं हुआ। तेल्ट्सशर बताती हैं कि, 'आया' दरअसल एक पुर्तगाली भाषा का शब्द है, जिसका मतलब गवर्नेस या नर्स होता है और पुर्तगाली भारत में उसे इसी रूप में प्रयोग करते थे। फिर यह भारतीय भाषाओं का हिस्सा बना और उनके रास्ते फिर अंग्रेजी में उतर गया।

और मैं आज तक इसे भारतीय भाषा का शब्द समझता था, उस अर्थ में जिसमें नई दिल्ली में मेरा पूरा परिवार इसे घरेलू मदद या बूढ़ी दाई के सन्दर्भ में प्रयोग करता आया है!

हॉब्सन-जॉब्सन शब्द संग्रह में 'चिली' शब्द की रोचक यात्रा बयान की गयी है जहाँ यह दर्ज किया गया है कि यह 'लाल मिर्च का लोक प्रचलित आंग्ल-भारतीय शब्द है।' यूल और बर्नेल के अनुसार, 'इसमें कोई शक नहीं कि यह शब्द दक्षिण अमेरिका में चिली में से लिया गया और भारतीय प्रायद्वीप तक पहुंचा और फिर भारत तक।'

शौक और खुशबुएँ

16वीं और 17वीं सदी में हिंदी, उर्दू, तमिल, मलयालम, पुर्तगाली और अंग्रेजी के शब्द सारी दुनिया में टहल रहे थे इस बात को उजागर करते हुए कि कैसे भाषाएँ, जैसे-जैसे संस्कृति के रूप बदलते हैं और लोग बदलते परिवेश के अनुसार जीना सीखते जाते हैं, समय के साथ विकसित होती हैं। इन तीन शब्दों- शॉल,

कश्मीरी और पचौली जो साथ-साथ 18वीं सदी की अंग्रेजी का हिस्सा बन गए थे - के उदाहरण से उपरोक्त बात की तस्दीक होती है।

तेल्ट्सशर बताती हैं, 'कश्मीरी शब्द को हम ऊन से जोड़कर देखते हैं और इसका उद्गम कश्मीर में और कश्मीरी भेड़ के ऊन में है। यह शब्द शॉल शब्द से गहरे जुड़ा हुआ है। शॉल एक ऐसा शब्द जो फ़ारसी में पैदा हुआ, उर्दू और हिंदी के ज़रिये भारत पहुंचा, और फिर अंग्रेजी में दाखिल हो गया।'

वे आगे कहती हैं, 'शॉल 18वीं और 19वीं सदी में अंग्रेजी में पहुंचा क्योंकि यह अभिजन समाज में औरतों के लिए एक प्रिय और ऐश्वर्य सूचक परिधान बन गया था। अगर किसी महिला का भाई ईस्ट इंडिया कंपनी के लिए काम करता था तो वो अपेक्षा रखती थी कि उसका भाई उसके लिए एक खूबसूरती से बना हुआ शॉल भेजेगा। पचौली, शॉल से जुड़ा हुआ है क्योंकि पचौली इत्र का इस्तेमाल शॉलों को ब्रिटेन ले जाते वक्त कीड़ों को दूर रखने के लिए किया जाता था। इस तरह यह तेज़ खुशबूदार इत्र ब्रिटेन की पसंद बन गया।'

पर पचौली ने जल्द ही अपना ग्लैमर खो दिया। तेल्ट्सशर बताती हैं, 'उन्नीसवीं सदी के बीतते-बीतते पचौली फ्रेंच वेश्याओं और तथाकथित चरित्रहीन औरतों से जोड़ कर देखा जाने लगा। इस तरह पचौली ने एक राजसी शौक होने से लेकर और फिर असभ्य समाज का सूचक बन जाने तक का रास्ता तय किया और फिर सन 60 तक आते-आते यह हिप्पी समुदाय से जोड़ कर देखा जाने लगा।'

शब्द और उनके संसार

लन्दन में पैदा हुए, ब्रिस्टल में बसे लेखक निकेश शुक्ला का मानना है कि रोज़मर्रा की अंग्रेजी में भारत के योगदान से ब्रिटिश साम्राज्य के कुछ हद तक अपने उपनिवेशों पर निर्भर होने के पता चलता है। 'यह लाज़िमी ही था कि उपनिवेशवाद के साथ ब्रिटेन स्थानीय संस्कृतियों से प्रभावित होगा और इसके असर दूरगामी होंगे। क्योंकि उपनिवेशवाद कोई एकआयामी चीज़ नहीं होती। ज़रा उन चीज़ों पर ध्यान दीजिये जो ब्रिटिश संस्कृति में कॉमनवेल्थ राष्ट्रों से आयीं और यहीं की होके रह गयीं जैसे चाय, और भाषा भी इसी प्रक्रिया का हिस्सा रही है।

निकेश शुक्ला, जिनका ताज़ा उपन्यास 'मीटस्पेस' सोशल मीडिया और स्मार्ट फ़ोन तकनीक की पड़ताल

करता है, का मानना है कि साम्राज्य ने अंग्रेजी भाषा को वैसे ही प्रभावित किया है जैसे आज तकनीक कर रही है। उनका कहना है कि, 'इस परिघटना को देखने का एक सीधा तरीका यह है कि इन शब्दों ने अंग्रेजी भाषा में इसलिए उथल-पुथल मचाई क्योंकि वे अंग्रेजी का हिस्सा ही नहीं थे उदाहरण के लिए वेरांडा (बरामदा) शब्द को लीजिये। ब्रिटेन में मौसम ठंडा रहता है अतः यहाँ बरामदे नहीं होते और ना ही पैजामे या ढीले-ढाले सूती पतलून, क्योंकि ये गर्म मौसम के लिए उपयुक्त रहते हैं।

वे आगे जोड़ते हुए कहते हैं कि, 'आज वाईएफआई, इंटरनेट, गूगल, ईमेल, और सेल्फी जैसे शब्द सारी दुनिया में फैल चुके हैं और इनके लिए कोई और शब्द दिखाई ही नहीं पड़ता। इस तरह से ये शब्द अंग्रेजी का ही नहीं अन्य सारी भाषाओं का भी हिस्सा बन चुके हैं। सोशल मीडिया ने भी हमारे बातचीत के ढंग को गहरे प्रभावित किया है। मसलन अब 'लाइक' या 'फॉलोइंग' जैसे शब्दों का अर्थ ही बदल चुका है। हम कह सकते हैं की 'लोल' (LOL) जैसे शब्दों के साथ तकनीक अंग्रेजी भाषा में खलबली पैदा करने वाली नयी चीज़ बन गयी है। पर मुझे यह बेहद रोचक लगता है कि किस तरह से उपनिवेशवाद ने खुद ब्रिटेन की संस्कृति को दूसरी संस्कृतियों से रूबरू करवाते हुए अंग्रेजी भाषा में कैसे-कैसे नए दरीचे खोले हैं।

शुक्ला का प्रिय अंग्रेजी-भारतीय शब्द हैं 'ब्लाएटी' (blighty), जो यह साबित करता है की कैसे भाषा लगातार विकसित होती रहती है। वे बताते हैं की यह शब्द प्रवासी ब्रितानियों द्वारा ब्रिटेन और अपनी मातृभूमि के सन्दर्भ में कुछ इस तरह प्रयोग होता है कि, 'गुड ओल - 'ब्लाएटी'। जबकि यह शब्द यूरोप के लोगों या विदेशियों के लिए प्रयोग किये जाने वाले उर्दू शब्द 'विलायती' से आता है। याने यह शब्द अंग्रेज़ों द्वारा बिगाड़ कर घर को याद करने के सन्दर्भ में इस्तेमाल किया जाने लगा और इस तरह अंग्रेजी भाषा का हिस्सा बन गया।'

भारत का अंग्रेजी पर प्रभाव इस बात को साबित करता है कि भाषाएँ हमेशा गतिमान रहती हैं और आधुनिक जगत जैसा है उसमें भूतपूर्व उपनिवेशों का भी गहरा योगदान है। तेल्ट्सशर कहती हैं 'शब्दों को देखना कितना अद्भुत होता है। आपको अनचीन्हे रास्ते, अनपेक्षित तरंगे और अद्भुत संगतियां स्पष्ट होने लगती हैं।'

अनुवाद : सौम्य मालवीय

isd इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी

फ्लैट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस, 62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका, नई दिल्ली-110067

टेलीफोन 011-26177904, 46025219 टेलीफैक्स 011-26177904, ईमेल : notowar.isd@gmail.com / वेबसाइट : isd.net.in

केवल सीमित वितरण के लिए